न्यायदर्शन

सवात्स्यायनभाष्य हिन्दी अनुवाद

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

...ग्रन्थमाला पुष्प ८७

न्यायदर्शन

सवात्स्यायनभाष्य हिन्दी अनुवाद

प्रथमाध्यायात्मक

अनुवादकर्ता और प्रकाशक—
स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड
गुरुकुलकांगड़ी (हरिद्वार)

पुस्तक मिलने का पता—
सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, 'दयानन्द भवन'
(रामलीला मैदान) नई दिल्ली १
२—जयदेवब्रदर्स, आत्माराम रोड, बड़ोदा।

प्रथम वार १००० } भाद्रपद सं० २०२५ वि०, सितम्बर सन् १९६८ ई० } १ रू० ७५ पैसे

मुद्रक—अजन्ता प्रिंटिंग प्रेस, (फोन ५७) ज्वालापुर।
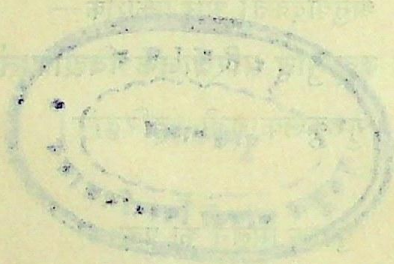
प्राक्कथन

संस्कृत वाङ्मय में उपनिषद् और शास्त्र (षट् शास्त्र) आध्यात्मिक प्रधान विषय हैं। अध्यात्म जीवन में विशेष उपयोग होने से उपनिषदों को श्रुति* और शास्त्रों को दर्शन नाम दे दिया है, ये दोनों आध्यात्मिक जीवन में ऐसे ही हैं जैसे बाह्य जीवन—शरीर में कान और आंख प्रधान अङ्ग हैं†। इसी प्रकार उपनिषद् श्रुतिरूप और शास्त्र दर्शनरूप दोनों आध्यात्मिक जीवन के कान और आंख के समान मोक्षप्राप्ति में अमोघ साधन हैं। उपनिषदों को श्रुति और शास्त्रों को दर्शन कहा जाता है, यदि इन्हें एक ही रेखा पर लाना चाहें तो उपनिषदों को श्रुति कहा जावे तो शास्त्रों को दृष्टि कहा जासकता है, और यदि शास्त्रों को दर्शन कहा जायगा तो उपनिषदों को श्रवण कहना होगा तब इन्हें निम्न रूप में देखेंगे—

उपनिषद्—शास्त्र

श्रुति—दृष्टि

श्रवण—दर्शन

---

* विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः (मनु० ६।२७२) "श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य" (सांख्य० ५।१२) उपनिषद् भी प्रधान (प्रकृति) ही को जगत् का उपदान कारण कहती है (सत्यार्थप्र० सप्तम समु०)

† वेद में अनेकत्र कान और आंख का प्रधानत्व मिलता हैं "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः"

(ऋ० १।८६।८, यजु० २५।२१)

प्रस्तुत प्रसङ्ग शास्त्र (षट् शास्त्र) अर्थात् दर्शन (षड् दर्शन) का है। छहों की छः दृष्टियां हैं, तीन दृष्टियां बाहिरी जगत् में तीन दृष्टियां भीतर शरीर में हैं, दो दो दर्शन समानशास्त्रता से सम्बद्ध होने के कारण इनके तीन युगल (जोडे) हैं। सांख्य—योग, वेदान्त-मीमांसा, वैशेषिक—न्याय। प्रत्येक युगल में से एक दर्शन बाहिरी दृष्टि से वर्णन करता है तो दूसरा भीतरी दृष्टि को लेता है। सांख्य दर्शन बाहिरी जगत् के मूल उपदान प्रकृति और उसके परिवार का मुख्यतः विवेचन करता है तो योग दर्शन भीतरी दृष्टि अर्थात् शरीर के मूल पदार्थ **चित्त**+ और उसकी वृत्तियों का व्याख्यान प्रधान-तया करता है। वेदान्त दर्शन बाह्य जगत् के निर्माता नायक ब्रह्म—परमात्मदेव और उसकी गुणशक्तियों का विवेचन करता है तो मीमांसा दर्शन शरीर के भीतरी नायक जीवात्मा के कर्मकलाप का विधान करता है। वैशेषिक दर्शन बाहिरी पृथिवी आदि विशेष पदार्थों का वर्णन वर्गीकरण विश्लेषण करता है तो न्याय दर्शन उनके उपयोगार्थ भीतरी उपकरणों और उपायों का स्वरूप दर्शाता है।

यहां दर्शन शब्द का साधारण अर्थ आंख से देखना नहीं है। किन्तु मन से देखना है, 'दृश' धातु का ऐसा अर्थ तथा प्रयोग अन्यत्र भी बहुत मिलते हैं, जैसे—"आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः"(चाणक्यनीति श्लो०३) अपने जैसा सब प्राणियों में देखना मन से होता है, "दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (कठो० ३ (१२) सूक्ष्मदर्शी विद्वानों के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से परमात्मा देखा जाता है। यहां बुद्धि से देखना कहा है आँख से नहीं सूक्ष्म-दर्शी दीर्घदर्शी पारदर्शी आदि शब्दों में भी देखना ज्ञानदृष्टि से बनता है। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृह० २।४।५) "आत्मन्ये-

---

+ "मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे" (प्रश्नो० ३।३)

वात्मानं पश्यति" (बृह० ४।४।२३) इन में आत्मा को देखना कहा है सो ज्ञानदृष्टि से ही अतः यहां दर्शन ग्रन्थों में दर्शन का अभिप्राय है जगत् में निहित सिद्धवस्तुतत्त्व का ज्ञान करना कराना। ये वेद के उपाङ्ग हैं ज्ञानांशता से, वेद ज्ञानागार है अत एव वेदकाल से ही दर्शनविद्या की प्रवृत्ति वेद को प्रमाण मान कर है। प्रत्येक दर्शन-ग्रन्थ में वेद, आगम, श्रुति, आम्नाय आदि पर्यायनामों से वेद को आधार बनाते हैं। अतएव छहों दर्शन वैदिक दर्शन एवं आस्तिक दर्शन हैं + दर्शनविद्या या दार्शनिक विवेचन का निर्देश वेद में अनकेत्र मिलता है, जैसे—

किँ स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्"
(ऋ० १०।८१।४)

कौन वह वन और कौन वह वृक्ष था जिस से द्युलोक और पृथिवी लोक को घडा है, हे विचारशीलो–दार्शनिकजनो! तुम अपने मन से पूछो विचारो कि वह लोकों– आकाशीय पिण्डों को धारण करता हुआ विश्वकर्मा—विश्व का रचयिता कहां विराजमान है ?

इस प्रकार दर्शन विद्या का सामान्य स्वरूप कथन करने के

+ "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"(योग० १।२४)
"स हि सर्ववित् सर्वकर्ता, ईदृशेश्वरसिद्धिःसिद्धा"(सांख्य० ३।५६,५७)
"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः" (वेदा० १।१।१,२)
"हिरण्यगर्भः पूर्वस्य मन्त्रलिङ्गात्" (मीमां० १।३।१३)
विभवान्महानाकाशः, तथा चात्मा (वैशे० ७।१।१।२)
तद्वचनादाम्नायस्य प्रमाण्यम् (वैशे० १।२) तयोरीश्वरवेद-वचनादिति प्रशस्तपादः।
"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्" (न्याय० ४।१।१९)

अनन्तर अब प्रस्तुत न्याय दर्शन सन्दर्भ पर कहना है।

न्याय नाम क्यों—

"प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः" (न्याय० १।१।१ वात्स्यायनः) प्रमाणों के द्वारा अर्थ—वस्तु या विषय की परीक्षा पूरी जांच करना न्याय है। लोकप्रचलित न्याय भी साक्ष्य युक्ति प्रयुक्ति आदि द्वारा किया जाता है, वहां भी वादी और प्रतिवादी होते हैं, वहां वादी का पक्ष प्रत्यक्ष (वर्तमान) होता है यहां वादी का पक्ष (साध्य) प्रत्यक्ष और परोक्ष अर्थात् इन्द्रियों से परे भूत और अनागत। दोनों प्रकार का होता है। अन्य दर्शन का विषय प्रत्यक्ष और आगम पर निर्भर है न्याय दर्शन का प्रतिपाद्य अधिकांश में अनुमान पर आश्रित है, प्रत्यक्ष का विषय लोकप्रसिद्ध है और आगम का विषय वेदशास्त्र-सिद्ध है, परन्तु अनुमान का विषय न प्रसिद्ध न सिद्ध है किन्तु साध्य है, हां सिद्ध या प्रसिद्ध विषय की ईक्षा— जांच को दृढ निश्चयार्थ पश्चात् ईक्षा—जांच करना 'अनु—ईक्षा—अन्वीक्षा' कहते हैं। उस अन्वीक्षा द्वारा उसे लक्ष्य कर जो विद्या या शास्त्र प्रवृत्त हो वह आन्वीक्षिकी विद्या या न्यायशास्त्र है। परन्तु प्रत्यक्ष और आगम से अतिरिक्त और अनुमान से साध्य को स्थिर करना इस न्यायदर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य है जो कि पञ्चावयव वाक्य के द्वारा होता है, वे पांच अवयव हैं (१) प्रतिज्ञा (२) हेतु (३) उदाहरण (४) उपनय (५) निगमन। जिनका विवरण इनके स्वरूपवर्णन—प्रकरण में आवेगा।

इस दर्शन के पदार्थवर्णन का अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग है—

प्रमाण प्रमेय आदि १६ पदार्थों* का नाम निरूपण, लक्षण

---

* "प्रमाणप्रमेय·· निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" (न्याय०१।१।१) प्रमाण आदि के तत्त्वज्ञान—स्वरूप ज्ञान से मोक्ष की ाप्ति होती है।

और परीक्षण करते हुए सांसारिक निर्वाह साध कर अन्त में अपवर्ग मोक्ष को प्राप्त करना है। इस दर्शन में मोक्ष को निवृत्तिस्वरूप में देखा है अर्थात् मोक्ष में दुःख की निवृत्ति होती है, प्रवृत्तिस्वरूप में नहीं देखा अर्थात् मोक्ष में सुख की प्रवृत्ति होती है ऐसा नहीं, किसी विशेष सुख का आगमन नहीं होता है किन्तु मुक्त केवल ब्रह्मसंस्थ रहता है ब्रह्म का जो स्वरूप है उसकी अनुभूति स्वात्मा में करता है जो अन्यसाधनापेक्षित नहीं उसे ब्रह्मानन्द भले ही कहें। परन्तु आत्मा से भिन्न साधन से भोग में आने वाला वहां सुख नहीं सुख के दुःखयुक्त होने से। अतः मोक्ष या मुक्ति छूटने को कहते हैं जिससे मनुष्य छूटना चाहते हैं, दुःख से ही छूटना चाहते हैं, दुःख से सर्वथा छूटना मोक्ष या मुक्ति है। सांख्य-दर्शण में भी कहा है कि "मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः"(सांख्य० ६।२०) मुक्ति है बाधक या दुःख का नष्ट हो जाना इससे पर अर्थात् दुःख से भिन्न सुख को पाता नहीं, हां "तत्राप्यविरोधः" (सांख्य० ६।२१) उस पर – परस्वरूप पाने में विरोध नहीं है उससे पर भिन्न स्वरूप ब्रह्म में संस्थिति—ब्रह्मानुभूति है ही वह तो लक्षित है।

न्यायदर्शन का प्रवर्तक गौतम—

न्यायदर्शन का प्रवर्तक गौतम और उसका अन्य नाम—

योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्।

तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्तयत्॥(न्याय०५।२।२४ वात्स्यायनः)

वक्ताओं में श्रेष्ठ वक्ता अक्षपाद ऋषि को जो न्यायदर्शन प्रतिभासित हुआ उसका समस्त भाष्य वात्स्यायन ने प्रवर्तित किया रचा है यहां वात्स्यायन ने गौतम को अक्षपाद नाम से स्मरण किया है। गौतम का अन्य नाम प्रशस्तपाद भी हो, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने सत्यार्थप्रकाश तृतीयसमुल्लास में "वैशेषिक

दर्शन पर गौतम मुनिकृत भाष्य" पढ़ने को लिखा है पुनः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में "प्रशस्तपादकृतभाष्यसहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिकशास्त्रम्" (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका) प्रशस्तपादकृतभाष्य लिखा है एवं गौतम का नाम अक्षपाद और प्रशस्ताद था।

वात्स्यायनभाष्य से पूर्व भी भष्य था—

भाष्यकार वात्स्यायन ने "कालात्ययापदिष्टः कालातीतः"(न्याय १।२।६) इस सूत्र का "अवयवविपर्यासवचनं न सूत्रार्थः"(वात्स्यायनः) 'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन' इन अवयवों का विपर्यास करना कालातीत हेत्वाभास है ऐसा सूत्र का अर्थ नही है, इस कथन से यह विदित होता है कि वात्स्यायन से पूर्व कोई भाष्य था।

वात्स्यायन की भाष्यशैली—

जैसे व्याकरणमहाभाष्यकार पतञ्जलि अपने महाभाष्य में व्याख्येय वचन देकर उनकी व्याख्या करते हैं ऐसे ही वात्स्यायन भी अपने न्यायभाष्य में व्याख्येय वचन देकर व्याख्या करते हैं। पतञ्जलि के समान पदपदार्थ को खोलते हैं पतञ्जलि की भांति सूत्रवचनों के सम्बन्ध में "यथान्यासमेवास्तु" (न्याय० १।२।३) भी कहते हैं—

वात्स्यायन—

वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः।

(अभिधानचिन्तामणौ)

विष्णुगुप्तस्तु कौण्डिन्यश्चाणक्यो द्रमिलोऽशुंलः।
वात्स्यायनो मल्लनागपक्षिलस्वामिनावपि॥

(त्रिकाण्डशेषकोशे)

इन श्लोकों में चाणक्य को कौटिल्य वात्स्यायन आदि नामों

से कहा गया है, इस से न्यायभाष्यकार वात्स्यायन कौटिल्यशास्त्र का रचयिता कौटिल्य है ऐसा समझा जाता है और ऐसा मानने में यह अन्य युक्ति भी है कि वह कौटिलीयार्थशास्त्र के विद्योद्देश प्रकरण में कहे—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥

इस श्लोक का उद्धरण न्यायदर्शन (अध्याय १ आह्निक १सूत्र१) के अपने भाष्य में वात्स्यान देते हैं—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥

इस प्रकार यह वचन देकर कौटिल्यार्थशास्त्र के विद्योद्देश प्रकरण में कही आन्वीक्षिकी विद्या है ऐसा कहते हैं।

गौतम और वात्स्यायन का समय—

यद्यपि इस विषय में मेरी रुचि नहीं है, मैं तो शास्त्र के विचारों का ग्राहक हूँ "आम खाने से प्रयोजन है पेड़ गिनने से क्या ?" तथापि इस में कहा जाता है कि जैमिनि के अनन्तरभावी तथा आज से तीन सहस्र वर्ष से अधिक पूर्ववर्ती गौतम नहीं है परन्तु न्याय वैशेषिक आदि दर्शनविद्या के नाम हैं जो वेदों के उपाङ्गभूत विद्यापरम्परा से हैं। गौतम का समय माना जासकता है पर इन विद्याभूत न्याय आदि का समय नहीं, ये तो गौतम आदि से पूर्व भी प्रसिद्ध थे, जैसे वेदान्त सांख्य योग नाम दर्शन-विद्या नाम हैं, वेदान्तदर्शन उपनिषद्वचनों की सङ्गति करता है परन्तु उपनिषदों में वेदान्त नाम आता है, "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः" (मुण्डको० ३।६) तथा गर्भ में सांख्ययोग का चिन्तन "सांख्यं योगं समभ्यसेत पुरुषं वा

पञ्चविंशकम्" (निरु० अ० १३ख०१६) यह कथन व्यासकृत वेदान्त-ग्रन्थ तथा कपिलकृत सांख्य ग्रन्थ और पतञ्जलिकृत योग ग्रन्थ का वर्णन नहीं अपि तु वेदान्तदर्शनविद्या सांख्यदर्शनविद्या, योग दर्शनविद्या लक्ष्य है। कोई ऐसा भी मानते हैं कि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन से दो सौ या तीन सौ वर्ष पूर्ववर्ती गौतम हुए। वात्स्यायन का समय व्याकरणमहाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि के पश्चात् उसके समीप कहा जाता है, पतञ्जलिकृत महाभाष्यव्याकरण की भांति व्याख्येय वचनों को न्यायभाष्य में देकर उनका व्याख्यान करने से। इति

स्वमी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड
२८-६-१६६८ ई०

न्यायदर्शन

वात्स्यायन भाष्यसहित

का

हिन्दी—अनुवाद

प्रथम अध्याय, प्रथम आह्निक

भाष्यकार वात्स्यायन का प्राक्कथन—

प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम् ।

प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः, नार्थपत्तिमन्तरेण प्रवृत्ति-सामर्थ्यम्, प्रमाणेन खल्वयं ज्ञातार्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति जिहासति वा, तस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते, सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्धः, समीहमानस्तमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा तमर्थमाप्नोति जहाति वा। अर्थस्तु सुखं सुखहेतुश्च दुःखं दुःखहेतुश्च सोऽयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्ये-यत्वात । (क)

भाष्यानुवाद—एक प्रमाण या दो प्रमाणों किंवा बहुत प्रमाणों से अर्थ—प्रयोजन—प्रयोजनीय विषय एवं वस्तु की सिद्धि—प्राप्ति होने में—हो जाने पर प्रवृत्ति—प्राणीमात्र की चेष्टा—व्यवहारक्रिया का सम्भव—योग्यत्व है अतः प्रमाण अर्थवान्—सार्थक सप्रयोजन है। अर्थात् प्रमाण के विना अर्थ की सिद्धि नहीं होती न ही अर्थ की

सिद्धि के विना चेष्टा—व्यवहारक्रिया ग्रहण और त्याग सम्भव है। प्रमाण से यह ज्ञाता—प्रमाणकर्ता अर्थ को उपलब्ध करके उस अर्थ को लेने की इच्छा करता है या त्यागने की इच्छा करता है। उस प्राप्ति की इच्छा या त्याग की इच्छा से प्रेरित जन की चेष्टा ही प्रवृत्ति कहलाती है। प्रवृत्तिका सामर्थ्य है इस प्रवृत्ति का फल के साथ-सुखप्राप्ति तथा दुःखनिवृत्त के साथ अभिषङ्ग—विशेष रुचि या लगाव, चेष्टा—क्रिया—व्यवहारक्रिया करता हुआ उस अर्थ को लेने की इच्छा करता हुआ या त्यागने की इच्छा करता हुआ उस अर्थ को लेता या त्याग देता है, अर्थ—प्रयोजन या प्रयोजनीय है प्राप्त करने में सुख और सुख का साधन और त्याग करने में दुःख और दुःख का हेतु। वह यह प्रमाण का अर्थ—प्रयोजन अगण्य है प्राणधारियों के अगिणत होने से। (क)

वात्स्यायन भाष्य—अर्थवति च प्रमाणे प्रमाता प्रमेयं प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति, कस्मात्? अन्यतमापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। तत्र यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता, स येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्, योऽर्थः प्रमीयते तत् प्रमेयम्, यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः, चतसृषु चैवंविधास्वर्थतत्त्वं परिसमाप्यते। (ख)

भा० अनु० — प्रमाण अर्थवान्–सार्थक–सप्रयोजन होने पर प्रमाता—प्रमाणकर्ता प्रमेय जो प्रमाण से प्रमाणित हो रहा है वह विषय या पदार्थ तथा प्रमिति—अनुभूति—प्रमेय का ज्ञान ये तीनों भी अर्थ वाले—सार्थक—सप्रयोजन—सफल हैं क्योंकि इन में किसी एक के अभाव में—न होने पर अर्थ—प्रयोजन की अनुपपत्ति—असिद्धि

होने से उन चारों में लेने की इच्छा त्याग की इच्छा से प्रेरित जिसकी प्रवृत्ति है वह प्रमाता है, वह प्रमाता जिस साधन या प्रयत्न से—व्यवहार से अर्थ को जांचता है--लक्षित करता है वह प्रमाण है. जो अर्थ—विषय या पदार्थ जांचा जाता है—जाना जाता है वह प्रमेय है, जो अर्थानुभूति वह प्रमिति है। चार ऐसी प्रक्रियाओं में–रीतियों में अर्थतत्त्व–विषयवस्तु या अर्थ का स्वरूप परिपूर्ण हो जाता है। (ख)

वा० भा०—किं पुनस्तत्त्वम् ?

सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः।

सत् सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति, असच्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। (ग)

भा० अनु०—अच्छा तो तत्त्व का अभिप्राय क्या है ?

सत्–सत्तावान् विद्यमान का तथैव विद्यमान रहना और असत्-सत्तारहित–अविद्यमान का अविद्यमान रहना तत्त्व—स्वरूप है। अर्थात् सत्-सत्तावान् विद्यमान है इस रूप में ग्रहण हुआ ज्यों का त्यों—जैसा है वैसा अविपरीत तत्त्व कहलाता है। असत्—सत्तारहित—अविद्यमान नहीं है इस रूप में ग्रहण किया जाता हुआ अविपरीत तत्त्व कहलाता है। (ग)

वा० भा०—कथमुत्तरस्य प्रमाणेनोपलब्धिः ?

सत्युपलभ्यमाने तद्वदनुपलब्धेः प्रदीपवत्।

यथादर्शकेन दीपेन दृश्ये गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते तन्नास्ति। यद्यभविष्यदिदमिव व्यज्ञास्यत विज्ञानाभावान्नास्तीति। तदेवं सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयतीति। सच्च खलु षोडशधा व्यूढमुपदेक्ष्यते। (घ)

भा० अनु०—कैसे उत्तर-पिछले अर्थात् असत् की प्रमाण द्वारा उपलब्धि—प्राप्ति है ?

सत्—सत्तावान्—विद्यमान के उपलब्ध होने पर उस जैसा न प्राप्त होने से प्रदीप की भांति—प्रदीप से जैसे वस्तु अवस्तु का बोध हो जाता है। अर्थात् जैसे दिखाने वाले दीपक से दृश्य ग्रहण किये जाने पर उस जैसा जो ग्रहण नहीं किया जाता है वह नहीं है। यदि होता तो इस दृश्य की भांति जाना जाता, विज्ञान के अभाव से न जाना जाने से वह नहीं है वह इस प्रकार सत्—सत्तावात् विद्यमान का प्रकाशक जनाने वाला प्रमाण असत्—सत्तारहित—अविद्यमान वस्तु का भी प्रकाश करता है उसे जनाता है और सत्—सत्तावान् विषय पदार्थ सोलह क्रमविभाग द्वारा उपदिष्ट किये जायेंगे। (घ)

(अवतरण) तासां खल्वासां सद्विधानाम्—

उन इन सत् पदार्थ की प्रकारविभक्तियों-प्रक्रियास्थलियों में—

'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्त सिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—'प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयाजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, मिर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान, इन सोलह सदात्मक विभागों के तत्त्वज्ञान—स्वरूपज्ञान से निःश्रेयस-नितान्त कल्याणरूप मोक्ष का लाभ या प्राप्ति होना सम्भव है।

वात्स्यायन भाष्य—निर्देशे यथावचनं विग्रहः, चार्थे द्वन्द्वसमासः, प्रमाणादीनां तत्त्वमिति शैषिकी षष्ठी, तत्त्वस्य ज्ञानं निःश्रेयसस्याधिगम इति कर्मणि षष्ठ्यौ, त एतावन्तो विद्यमानार्थाः, एषामविपरीतज्ञानार्थमिहोपदेशः, सोऽयमनवयवेन तन्त्रार्थ उद्दिष्टो वेदितव्यः, आत्मादेः खलु प्रमेयस्य तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः, तच्चैतदुत्तरसूत्रेणानूद्यत इति, हेयं तस्य निर्वर्तकं हानमात्यन्तिकं तस्योपायोऽधिगन्तव्य इत्येतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यग् बुद्ध्वा निःश्रेयसमधिगच्छति। (क)

भाष्यानुवाद—सूत्र निर्देश में प्रमाण आदि निग्रहस्थान तक प्रसिद्ध पदों के अनुसार विग्रह—पदविभाग समझना चाहिये, यहां 'च' के अर्थ समुच्चयार्थ में द्वन्द्व समास है, प्रमाण आदियों का तत्त्व यह शेष में-अकारक में षष्ठी है "षष्ठी शेषे" (अष्टा. २।३।५०) तत्त्व का ज्ञान और निःश्रेयस का अधिगम ये दोनों कर्मकारक में षष्ठी हैं, वे प्रमाण से लेकर निग्रहस्थान तक ये इतने विद्यमान अर्थ हैं, इनके यथावत् ज्ञानार्थ यहां उपदेश है, सो यह पूर्णरूप से शास्त्र-इस न्याय शास्त्र का वस्तुवर्ग कह दिया गया जानना चाहिये। आत्मा आदि प्रमेय के स्वरूप ज्ञान से निःश्रेयस—मोक्ष का लाभ होता है यह "दुःखजन्म तदनन्तरापायादपवर्गः" सूत्र से अनुकथन किया भी है। हेय—त्याज्य दुःख, उसका साधक—जनक, हान—नाश—अत्यन्त दुःखनाश—मोक्ष, उसका उपाय अधिगमन करने योग्य आत्मादि साक्षात् करना, ये चार अर्थ—शास्त्र के लक्ष्यपद सम्यक् जान कर मोक्ष को प्राप्त होता है। (क)

वा० भा० — तत्र संशयादीनां पृथग्वचनमनर्थकम्, संशयादयो यथासम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्त इति, सत्यमेतत्, इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या यस्याः पृथक्प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः, तेषां पृथग्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्याद् यथोपनिषदः, तस्मात् संशयादिभिः पदार्थैः पृथक् प्रस्थाप्यते। (ख)

भा० अनु०—वहां सूत्र में संशय आदि चतुर्दश पदार्थों का पृथक् पढना अनर्थक है केवल प्रमाण और प्रमेय ही रहें क्योंकि वे संशय आदि यथासम्भव प्रमाणों में और प्रमेयों में अन्तर्भूत—अन्तर्गत हो जाते हुए व्यतिरिक्त—पृथक् नहीं है। यह ठीक है, परन्तु ये चार विद्याएं [त्रयी—वेदत्रयी, वार्ता—लोक में बर्ती जाने वाली व्यवहारविद्या, दण्डनीति--राजनीति, आन्वीक्षिकी—अन्वीक्षण विविध युक्ति प्रमाणों द्वारा जनाने—जंचाने वाली न्याय विद्या] पृथक्-पृथक् प्रस्थानों आधारों वाली प्राणियों—मनुष्यों के लाभ के लिये उपदिष्ट की हैं चतुर्थी यह आन्वीक्षिकी—न्यायविद्या है उसके-इसके पृथक् आधार संशय आदि पदार्थ हैं उनके पृथक् पढने के विना अध्यात्मविद्यामात्र यह हो जावे जैसे उपनिषदें—उपासनावचन, तिस से संशय आदि पदार्थों के साथ इसे पृथक् प्रस्थापित—संशय आदि पदार्थों पर आधारित किया है। (ख)

वा० भा०—तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे, यथोक्तम 'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः' (न्याय द० १।१।४१) इति, विमर्शः—संशयः, पक्षप्रतिपक्षौ-

न्यायप्रवृत्तिः, अर्थावधारणम्-निर्णयः—तत्त्वज्ञानमिति, स चायम्—किंस्वित्-इति वस्तुविमर्शमात्रमनवधारणं संशयः प्रमेयेऽन्तर्भवन्नेवमर्थं पृथगुच्यते। (ग)

भा० अनु०--उस प्रसङ्ग में अनुपलब्ध--जो प्रमाणों से उपलब्ध नहीं—अविद्यामान-विद्यमान नहीं ऐसी—अविद्यमान वस्तु में और निर्णीत प्रसिद्ध वस्तु में न्याय प्रवृत्त नहीं होता है जो है ही नहीं और जो जानी हुई प्रसिद्ध वस्तु में न्याय की आवश्यकता या न्याय नहीं चलता तो कैसे ? संशयित-संशय वाली वस्तु में न्याय प्रवृत्त होता है जैसा कि सूत्रकार ने कहा है कि 'विमृश्य...' विमर्श करके पक्ष प्रतिपक्षों के द्वारा वस्तु का अवधारण—स्थिर करना निर्णय है, विमर्श संशय, पक्ष प्रतिपक्ष हैं न्याय्यप्रवृत्ति न्याय का प्रवर्तन—प्रयोग या व्यवहार, अर्थावधारण है निर्णय तत्त्वज्ञान, और वह यह है ऐसा स्थिर स्वरूप, 'किंस्वित्' क्या है यह अनिश्चत स्थिति वस्तु का अनियत विविध विचार—अनवधारणज्ञान—अनिश्चित भान ही संशय है जो प्रमेय के अन्तर्भूत होता हुआ इस कारण पृथक् कहा जाता है। (ग)

वा० भा०—अथ प्रयोजनम्—येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्, यमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा कर्मारभते, तेनानेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते, कः पुनरयं न्यायः ? प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः, प्रत्यक्षागमाश्रित-मनुमानं सान्वीक्षा—प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षा तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या—न्यायशास्त्रम्, यत् पुनरनुमानं प्रत्यक्षागम-विरुद्धं न्यायाभासः स इति। (घ)

भा० अनु०—अब प्रयोजन कहा जाता है जिससे प्रेरित हुआ जिसे लक्ष्य करके मनुष्य प्रवृत्त होता है—कार्य आरम्भ करता है वह प्रयोजन है, अर्थात् जिस अर्थ—विषयवस्तु को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ या त्यागने की इच्छा करता हुआ कर्म—कार्य आरम्भ तरता है वह प्रयोजन है, उस इस प्रयोजन से सारे प्राणी सब कर्म सारी विद्याएं व्याप्त हैं—पूरित हैं—संयुक्त हैं, वह प्रयोजन है आश्रय जिसका अर्थात् इस प्रयोजन के आश्रय न्याय प्रवृत्त होता है, तो फिर वह न्याय क्या है ? प्रमाणों से अर्थ—विषयवस्तु का परीक्षण न्याय है, प्रत्यक्ष प्रमाण और आगम—शब्द प्रमाण के आश्रित अनुमान, वह अन्वीक्षा है अर्थात् प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा ईक्षित—दृष्ट—ज्ञात का अन्वीक्षण, पश्चात् अनुभूति—प्रतीति है उससे प्रवृत्त होती है जो विद्या अतः वह आन्वीक्षिकी न्यायविद्या–न्याय शास्त्र है, जो तो प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण के विरुद्ध अनुमान हो वह न्यायाभास है न्याय का भ्रामक स्वरूप है न्याय नहीं है। (घ)

वा० भा०—तत्र वादजल्पौ सप्रयोजनौ वितण्डा तु परीक्ष्यते-वितण्डया प्रवर्तमानो वैतण्डिकः स प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते? सोऽस्य पक्षः सोऽस्य सिद्धान्त इति वैतण्डिकत्वं जहाति, अथ न प्रतिपद्यते नायं लौकिको न परीक्षक इत्यापद्यते, अथापि परपक्षप्रतिषेध-ज्ञापनं प्रयोजनं ब्रवीति ? एतदपि तादृगेव, यो ज्ञापयति यो जानाति येन ज्ञाप्यते-यच्च ज्ञाप्यते' एतच्च प्रतिपद्यते यदि ? तदा वैतण्डि-कत्वं जहाति, अथ न प्रतिपद्येत ? 'परपक्षप्रतिषेधनं प्रयोजनम्' इत्येतदस्य वाक्यमनर्थकं भवति, वाक्यसमूहश्च स्थापनाहीनो वितण्डा

तस्य यद्यभिधेयं प्रतिपद्यते ? सोऽस्य पक्षः स्थापनीयो भवति, अथ न प्रतिपद्यते ? प्रलापमात्रमनर्थकं भवति वितण्डात्वं निवर्तते इति । (ङ)

भा० अनु०—उस न्यायविद्या में वाद और जल्प सप्रयोजन हैं -आवश्यक हैं निर्णय के कारण होने से, वितण्डा की तो परीक्षा की जाती है वह क्या आवश्यक है ? चर्चा में वितण्डा 'तडि ताडने' विरुद्ध प्रवृत्ति से प्रवर्तमान मनुष्य वैतण्डिक है, वह प्रयोजन को ले कर युक्त है चर्चा में लगा हुआ यदि प्रतिपन्न है प्राप्त है तो वह इस का पक्ष है वह इसका सिद्धान्त है तब वैतण्डिकता को त्याग देता है, और यदि प्रयोजन को स्वीकार नही करता है तो यह न लौकिक है—लोकव्यवहार में प्रामाणिक और न ही परीक्षक—न्यायशास्त्रीय चर्चा-कुशल, यह प्राप्त होता है, और यदि परपक्षप्रतिषेध का प्रदर्शन ही प्रयोजन कहता है यह भी वैसा ही है अर्थात् वैतण्डिक ही है, परपक्षप्रतिषेध करना वैतण्डिक का कार्य है "परप्रतिषेधलक्षणं वाक्यं स वैतण्डिकस्य पक्षः" (स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा न्याय १-२-३ वात्स्यायनः) "वस्तुतस्तु स्वपक्षस्थापनाहीनत्वेऽपि परपक्ष-खण्डनमात्रमेव वितण्डायाः प्रयोजनम् (सुदर्शनाचार्यः),हां !जो जनाने वाला हो जनाता हो जानने वाला जानता हो जिस प्रमाण से जनाया जाता हो और जो जनाया जाए तो इस प्रकार प्रमाण कराने वाला, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के होने से इस सिद्धान्तरूप पक्षश्रेणि को प्राप्त हो जाता है यदि, तब वैतण्डिकता को त्याग देता है, और यदि पर पक्षप्रतिषेध को प्राप्त नही होता परपक्ष का प्रतिषेध—खण्डन—प्रदर्शन प्रयोजन कहना वाक्य उसका अनर्थक हो जाता है, परपक्ष

का प्रतिषेध करना तो वैतण्डिक का पक्ष होना अभीष्ट है ही। स्थापनारहित वाक्यसमूह वितण्डा कहलाता है (न्याम० १-२-३) उसका यदि अभिधेय—प्रयोजन—लक्ष्य होवे तो वह उसका पक्षस्थापन हो जाता है, और प्रयोजन—लक्ष्य प्राप्त न होतो इसका कथन प्रलापमात्र अनर्थक होता है पुनः वितण्डात्व निवृत्त हो जाता है। (ङ)।

वा० भा०—अथ दृष्टान्तः प्रत्यक्षविषयोऽर्थः—यत्र लौकिक-परीक्षकाणां दर्शनं न व्याहन्यते, स च प्रमेयम्, तस्य पृथग्वचनं तदाश्रयावनुमानागमौ, तस्मिन् सति स्यातामनुमानागमौ, असति च न स्याताम्, तदाश्रया च न्यायप्रवृत्तिः, दृष्टान्तविरोधेन च परपक्ष-प्रतिषेधो वचनीयो भवति, दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षः साधनीयो भवति, नास्तिकश्च दृष्टान्तमभ्युपगच्छन् नास्तिकत्वं जहाति, अनभ्यु-पगच्छन् किंसाधनः परमुपालभेत? निरुक्तेन च दृष्टान्तेन शक्य—मभिधातुम्, "साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्" (न्याय १।१।३६) "तद्विपर्ययाद् विपरीतम्" (न्याय द० १।१।३७) इति। (च)

भा० अनु०—अब दृष्टान्त है प्रत्यक्षसम्बन्धी या प्रत्यक्ष से विषयीभूत अर्थ, जिसमें लौकिक—लोकव्यवहारकर्ता जनों और परीक्षक—न्यायविद्या से जांच कर मानने वाले विद्वानों का भान ज्ञान न व्यभिचरित हो—न टकरा सके—न विरुद्ध पड सके। और वह प्रमेय है, उसका पृथक् कथन है इस लिये कि उसके आश्रय हैं उसके होने पर अनुमान और आगम प्रमाण प्रवृत्त हो सकें, और उस-दृष्टान्त के आश्रय न्यायप्रवृत्ति—परीक्षणप्रक्रिया है। दृष्टान्त के

विरोध से परपक्ष का प्रतिषेध—अयुक्तत्व कहना होता है, और दृष्टान्त के सम्यक् आधान—युक्तता से अपना पक्ष साधा जाता है और नास्तिक दृष्टान्त को स्वीकार करता हुआ—यदि दृष्टान्त को मानता है तो नास्तिकत्व को त्याग देता है दृष्टान्त को न मानता हुआ—न देता हुआ किस साधन वाला—दृष्टान्त न मान कर किस प्रकार दूसरे को उपालम्भ दे—दूसरे के पक्ष का खण्डन करे? और प्रसिद्ध दृष्टान्त से स्वाभिप्राय कथन किया जाता है या प्रस्तुत किया जा सकता है। साध्य के समान धर्म से उस धर्म—साध्य धर्म रखने वाला दृष्टान्त उदाहरण दिया जाता है, साध्य के विपरीत धर्म से दृष्टान्त विपरीत उदाहरण होता है। (च)

वा० भा०—'अस्त्ययम्' इत्यनुज्ञायमानोऽर्थः सिद्धान्तः, स च प्रमेयं तस्य पृथग्वचनं सत्सु सिद्धान्तभेदेषु वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते नातोन्यथेति। (छ)

भा० अनु०—'है यह'—नित्य या अनित्य या ऐसे धर्म वाला, इस प्रकार स्वीक्रियमाण पदार्थ या विषय सिद्धान्त है, और वह प्रमेय है, उसका पृथक् कथन है सिद्धान्तभेदों—परस्पर विरुद्धरूपों के होने पर वाद जल्प वितण्डा प्रवृत्त होते हैं, इससे भिन्न अवस्था में नहीं एक अविरुद्ध सिद्धान्त होने पर नहीं। (छ)

वा० भा०—साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते यस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते, तेषु प्रमाणसमवायः—आगमः प्रतिज्ञा, हेतुरनुमानम्, उदाहरणं प्रत्यक्षम्, उपनय उपमानम्, सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निग-

मनमिति, सोऽयं परमो न्याय इति, एतेन वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते नातोऽन्यथेति, तदाश्रया तत्त्वव्यवस्था, ते चैतेऽवयवाः शब्दविशेषाः सन्तः प्रमेयेऽन्वभूता एवमर्थं पृथगुच्यन्त इति। (ज)

भा० अनु०—साधने योग्य-जिसे सिद्ध करना हो उस वस्तु के साधनार्थ जितने शब्द समूह-वचनसमूह में सिद्धि परिसमाप्त-परिपूर्ण हो जावे उतने वचनसमूह के पांच अवयव—अङ्ग प्रतिज्ञा आदि समूह—वचनसमूह को अपेक्षित कर-लक्षित करके अवयव-अङ्ग कहे जाते हैं, स्वयं स्वरूपतः या अर्थतः तो अपने अपने में स्वतन्त्र हैं, उन प्रतिज्ञा आदि में प्रमाणों का समवाय—समावेश—स्वरूपभाव है, जैसा कि प्रतिज्ञा है—पक्षस्थापना यह ऐसा है आगम प्रमाण—शब्द प्रमाणवत् है किसी ने कहा पर्वत में अग्नि है, हेतु है अनुमान प्रमाण—अनुमानवत् है—धूम होने से, धूम अग्नि से निकलता या उठता है, उदाहरण है प्रत्यक्ष—प्रत्यक्षप्रमाणवत् महानस—पाकशाला-पाकशाला में अग्नि से धूम उठता हुआ प्रत्यक्ष मिलता है, उपनय—उपमान प्रमाणवत् साध्य के समान-धूमवान् जैसा होने से महानस—पाकस्थान धूमयुक्त है, जैसे पाकस्थान धूमयुक्त होने से अग्निमान् है ऐसे पर्वत धूमयुक्त होने से अग्निमान् है, सब प्रतिज्ञा आदि का एक अर्थ—वस्तु में समवेत होने में सामर्थ्यप्रदर्शन उपसंहार निगमन—निष्कर्ष—परिणाम है कि इससे पर्वत अग्निमान्—पर्वत में अग्नि अवश्य है। वह यह प्रतिज्ञा आदि व्यवहार या प्रयोग परम न्याय है, इसके साथ-इसे लक्ष्य कर वादजल्प वितण्डा चलते हैं इसके विना नहीं, इसके आश्रय तत्त्वव्यवस्था वस्तुस्वरूप की निश्चित स्थिति है और वे ये

प्रतिज्ञा आदि अवयव शब्दविशेष—प्रतिज्ञा आदि विशिष्ट नामवचन प्रमेय के अन्तर्भूत होते हुए इस लिए पृथक् कहे गये हैं। (ज)

वा० भा—तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते, तस्योदाहरणम्-किमिदं जन्म कृतकेन हेतुना निर्वर्त्यते, आहोस्विदकृतकेन? अथाकस्मिकमिति, एवमविज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्त्या—ऊहः प्रवर्तते, यदि कृतकेन हेतुना निर्वर्त्यते ततो हेतूच्छेदादुपपन्नोऽयं जन्मोच्छेदः, अथाकृतकेन हेतुना ततो हेतूच्छेदस्याशक्यत्वादनुपपन्नो जन्मोच्छेदः, अथाकस्मिकं ततोऽकस्मान्निर्वर्त्यमानं न पुनर्निर्वर्त्स्यतीति निवृत्तिकारणं नोपपद्यते तेन जन्मानुच्छेद इति, एतस्मिन् तर्कविषये कर्मनिमित्तं जन्मेति प्रमाणानि प्रवर्तमानानि तर्केणानुगृह्यन्ते, तत्त्वज्ञानविषयस्य विभागात् तत्त्वज्ञानाय कल्पते तर्क इति, सोऽयमित्थम्भूतस्तर्कः प्रमाणसहितो वादे साधनायोपलम्भाय चार्थस्य भवतीत्येवमर्थं पृथगुच्यते प्रमेयान्तर्भूतोऽपीति। (झ)

भा० अनु०--तर्क न प्रत्यक्ष आदि स्वतन्त्र शास्त्रप्रदर्शित एवं प्रसिद्ध प्रमाणों से संसक्त—प्रमाणों में समझा जाने योग्य है और न ही अन्य प्रमाण—प्रमा का साधन प्रमाण जैसा है किन्तु तत्त्वज्ञान—वस्तु के स्वरूप के लिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का सहायक बन जाता है, उदाहरण जैसे—क्या यह जन्म कार्य—किये जाने वाले कर्मरूप हेतु से निष्पन्न होता है या अकार्य—न किये जानेवाले—विना कर्मरूप हेतु से निष्पन्न होता है या जन्म आकस्मिक है-अकस्मात्-किसी कार्य-किये कर्म और अकार्य-न किये जाने वाले हेतु को भी अपेक्षित न करके स्वयं निष्पन्न हो जाता है, अविज्ञात विषय में ऊहा—विवेचन

तर्क प्रवृत्त होता है, यदि कृतक-किये जाने योग्य कर्महेतु से निष्पन्न होता है तो उस ऐसे हेतु के नाश से जन्म का हट जाना बन सकता है और अकृतक न किये जाने वाले विना कर्म में आये हेतु से जन्म होता है तो स्थिर हेतु के उच्छेद का अशक्य असम्भव होने से जन्म का उच्छेद नाश भी असम्भव है, और यदि जन्म आकस्मिक है किसी भी हेतु को अपेक्षित नहीं करता है तो अकस्मात् निष्पन्न होने वाला जन्म फिर न होगा इसमें कोई निवृत्तिकारण न बन सकने से जन्म का उच्छेद भी न हो सकेगा। इस प्रकार तर्कविषय में कर्मनिमित्तक—कर्म है निमित्त—हेतु जिसका ऐसा जन्म है इसमें प्रवृत्त हुए प्रमाण तर्क से सम्पुष्ट होते हैं क्योंकि तत्त्वज्ञान विषय के विभाग होने से तत्त्वज्ञान में तर्क भी एक भाग है जहां प्रत्यक्षादि प्रमाण तत्त्वज्ञान में अङ्ग है ऐसे तर्क विशेष भाग है तत्त्वज्ञान करने में तर्क भी समर्थ होता है। अतः वह यह ऐसा तर्क प्रमाणों के साथ वाद में स्वपक्षीय अर्थसाधन के लिये परपक्षीय अर्थ के उपालम्भ—आक्षेप के लिए होता है अतः प्रमेय के अन्तर्भूत होता हुआ पृथक कहा जाता है। (भ)

वा० भा०—निर्णयस्तत्त्वज्ञानं प्रमाणानां फलं तदवसानो वादस्तस्य पालनार्थं जल्पवितण्डे, तावेतो तर्कनिर्णयौ लोकयात्रां वहत इति, निर्णयः प्रमेयान्तर्भूत एवमर्थं पृथगुद्दिष्ट इति। (ञ)

भा० अनु०—निर्णय है जो वस्तु जैसी है वैसा ज्ञान—स्वरूपज्ञान—यथार्थ ज्ञान जो कि प्रमाणों का फल है, वह निर्णय है अन्त में जिसमें अर्थात् निर्णयावसानी—निर्णय तक ही वाद—न्यायचर्चा

है उस निर्णय के रक्षणार्थ, अथवा निर्णयावसानी वाद के रक्षणार्थ—वह निर्णय का माध्यम वाद किसी प्रकार निर्णय पर पहुंचे इसके लिये जल्प और वितण्डा हैं वे ये दोनों तर्क और निर्णय लोकयात्रा—अभ्युदय और निःश्रेयस को चलाते हैं, वह यह निर्णय प्रमेय के अन्तर्भूत होता हुआ भी इस लिये पृथक् निर्दिष्ट किया है—कहा गया है। (ञ)

वा० भा०—वादः खलु नानाप्रवक्तृकः प्रत्यधिकरणसाधनो—ऽन्यतराधिकरणनिर्णयावसानो वाक्यसमूहः पृथगुद्दिष्ट उपलक्षणार्थम्, उपलक्षितेन व्यवहारस्तत्त्वज्ञानाय भवतीति। तद्विशेषौ जल्पवितण्डे तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थमित्युक्तम्। (ट)

भा० अनु०—वाद है वह चर्चा जिसमें नाना प्रवक्ता हों वह ऐसा तथा प्रति वस्तुविषय साधन वाला—प्रत्येक वक्ता के वस्तु विषय के साधन से युक्त हो वह ऐसा अपितु किसी एक वस्तु विषय का निर्णय अन्त में जिसमें हो ऐसा वाक्यसमुदाय—कथनक्रम पृथक् कहा गया उपयोगार्थ, उहयोग किये हुये से व्यवहार तत्त्वज्ञान के लिए होता है, उस वाद के विशेष अपने अपने रूपों से वाद से कुछ भिन्न रूप वाले जल्प और वितण्डा वस्तुस्वरूपज्ञान के रक्षणार्थ हैं इस लिए कहे हैं। (ट)

वा० भा०—निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुद्दिष्टा हेत्वाभासा वादे चोदनीया भविष्यन्तीति, जल्पवितण्डयोस्तु निग्रहस्थानानीति। (ठ)

भा० अनु०—हेत्वाभास से लेकर निग्रहस्थानपर्यन्त चार का लक्षण भाष्यकार गौरव—विस्तारभय से छोड कर उनका प्रयोजन-

मात्र बतलाता है स्वरूप तो आगे विस्तार से सूत्रकार पञ्चम अध्याय में कहेगा, हेत्वाभास—भ्रामक कथन—हेतु जैसा भासित होने से मिथ्या हेतु हेत्वाभास निग्रहस्थानों में है परन्तु वे हेत्वाभास वाद—चर्चा में दर्शनीय होंगे जो न आने चाहियें, जल्प और वितण्डा में निग्रहस्थान दर्शनीय होंगे अतः निग्रहस्थानों से हेत्वाभास पृथक् कहे हैं। (ठ)

वा० भा०—छलजातिनिग्रहस्थानानां पृथगुपदेश उपलक्षणार्थ इति, उपलक्षितानां स्ववाक्ये परिवर्जनं (छलजातिनिग्रहस्थानानां ?) परवाक्ये च पर्यनुयोगः, जातेश्च परेण प्रयुज्यमानायाः सुलभः समाधिः स्वयं च सुकरः प्रयोग इति। (ड)

भा० अनु०—छल जाति निग्रहस्थानों का पृथक् उपदेश—कथन उनके दोषात्मक ज्ञान के समझाने के लिये है—जाने हुओं समझे हुओं का अपने वाक्य—वादरूप वाक्य या साधनवाक्य में न आने देना, परवाक्य—दूसरे पक्ष वाक्य—भिन्न वाद वाक्य में प्रक्षेपण सर्वथा अनुयुक्त होना दर्शाना, और दूसरे ने अपने पक्ष या वाद में प्रयुक्त की हुई दर्शाई हुई जाति का सुगम समाधान तथा स्वयं दूसरे के पक्ष या वाद में सुगम प्रयोग करना बतलाना हो सो यह जाति का विशेष प्रयोजन है। (ड)

वा० भा०—सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥

तदिदं तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमार्थं यथाविद्यं वेदितव्यम्, इह त्वध्यात्मविद्यायामात्मादितत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमोऽपवर्गप्राप्तिरिति। (ढ) ॥१॥

भा० अनु०—वह यह आन्वीक्षिकी—अन्वीक्षण करने कराने वाली न्यायविद्या प्रमाण आदि पदार्थों के द्वारा विभक्त की हुई—दर्शाई हुइ--सूत्र में प्रमाणादि नाम से विभाग करके कही गई तथा उन प्रमाणादि का निरूपण और व्यवहार द्वारा अन्य विद्याओं से पृथक् कही गई—सर्वविद्याओं का प्रदीप—प्रदीपसमान दर्शिका है—सहायक है, सब कर्मों के आचरणार्थ उपाय है, सब धर्मों—वर्णाश्रमधर्मों का आश्रय है यह बात कौटिल्य अर्थशास्त्र में कहे विद्योद्देश—विद्यासमुद्देश प्रकरण में कही गई है वहां "प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥' वह यह तत्त्वज्ञान निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए शास्त्रों की अपनी अपनी विद्यानुसार जानना चाहिये, यहां अध्यात्म विद्या में आत्मा आदि का तत्त्वज्ञान—स्वरूपज्ञान मानो निःश्रेयस अपवर्ग प्राप्ति है। (ढ) ॥१॥

(अव०) तत् खलु निःश्रेयसं किं तत्त्वज्ञानानन्तरमेव भवति ? नेत्युच्यते, किं तर्हि ? तत्त्वज्ञानात्—

वह निःश्रेयस क्या तत्त्वज्ञान के अनन्तर ही अर्थात् वस्तुस्वरूप ज्ञान होते ही तत्क्षण हो जाता है कि कोई क्रम तत्त्वज्ञान और निःश्रेयस के बीच में नहीं है ? ऐसा नहीं, किन्तु तत्त्वज्ञान से—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये—
तदनन्तरापायादपवर्गः ॥२॥

सूत्रार्थ—दुःख आदि अगले अगले के अपाय नाश में पुनः सर्वानन्तर के अपाय से अपवर्ग हो जाता है, अर्थात् सर्वोत्तर मिथ्याज्ञान का अपाय—नाश, उससे दोषों का अपाय, दोषों के अपाय से प्रवृत्ति का अपाय, प्रवृत्ति के अपाय से जन्म का अपाय, जन्म के अपाय से दुःख का अपाय हो जाने पर तदनन्तर इस प्रकार उत्तर क्रम से उस उस के अनन्तर—सर्वानन्तर दुःख के अपाय—नाश से अपवर्ग—सब का अपवर्जन—पृथग्भाव—मोक्ष हो जाता है।

वा० भा०—तत्रात्माद्यपवर्गपर्यन्तं प्रमेये मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारं प्रवर्तते, आत्मनि तावत् 'नास्ति' इति, अनात्मनि 'आत्मा' इति, दुःखे सुखमिति, अनित्ये नित्यमिति, अत्राणे त्राणमिति, सभये निर्भयमिति, जुगुप्सितेऽभिमतमिति, हातव्येऽप्रतिहातव्यमिति, प्रवृत्तौ नास्ति कर्म नास्ति कर्मफलमिति, दोषेषु नायं दोषनिमित्तः संसार इति, प्रेत्यभावे नास्ति जन्तुर्जीवो वा सत्त्व आत्मा वा यः प्रेयात् प्रेत्य च भवेदिति, अनिमित्तं जन्मानिमित्तो जन्मोपरम इति, आदिमान् प्रेत्यभावोऽनन्तश्चेति, नैमित्तकः सन्न कर्मनिमित्तः प्रेत्यभाव इति, देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां निरात्मकः प्रेत्यभाव इति, अपवर्गो भीष्मः खल्वयं सर्वकार्योपरमः, सर्वविप्रयोगेऽपवर्गे बहु भद्रकं लुप्यत इति, कथं बुद्धिमान् सर्वसुखोच्छेदमचैतन्यममुमपवर्गं रोचयेदिति, एतस्मान्मिथ्याज्ञानादनुकूलेषु रागः प्रतिकूले द्वेषः, रागद्वेषाधिकाराच्चासत्येर्षामायालोभादयो ('चासूयेर्ष्या...' क्वचित् पाठः) दोषा भवन्ति। (क)

भा० अनु०—उन आत्मा से लेकर अपवर्ग पर्यन्त प्रमेय—प्रमेयमात्र या प्रमेयगण में 'जाति में एकवचन' (न्याय० १।१।९) मिथ्याज्ञान अनेक प्रकारवाला प्रवृत्त होता है—समाविष्ट होता है—हुआ करता है, जैसे आत्मा में आत्मा नहीं है—शरीर में चेतन आत्मा नही है, अनात्मा में आत्मा—शरीर ही आत्मा है, दुःख में सुख—परिणामतः विषयभोगरूप दुःख में सुख, अनित्य शरीर धनादि में नित्यभाव, अत्राण—त्राण न करने वाले में त्राणकर्ता उसे समझना, भयस्थान—प्रतिष्ठा आदि में निर्भय होना जानना, निन्दित मलादिपूर्ण देह आदि में अभिमत—रुचिकर मानना, हातव्य—त्यागने योग्य देह आदि में न त्यागने का भाव, प्रवृत्ति—देहादि प्रवर्तन—में न कर्म है न कर्मफल है जिससे देहादि का प्रवर्तन हो, दोषों में संसार दोषों के कारण नहीं है, प्रेत्यभाव—मर कर जन्म लेने फिर शरीर धारण करने में जन्तु या स्थिर सत्तावाला या आत्मा नहीं है जो देह छोडे, छोड कर फिर जन्म ले, निमित्तरहित जन्म है और विना निमित्त जन्म का उपरम—समाप्ति है, प्रेत्यभाव आदि वाला—अनादि नहीं पर अनन्त है—सदा चलता रहेगा, निमित्त वाला हो तो भी कर्मनिमित्त वाला नहीं, अपितु देह—इन्द्रिय—मन सुखदुःखानुभूति साधनों के सन्तान—सहप्रवर्तनक्रम के छिन्न भिन्न और संयोग से होता हुआ भी प्रेत्यभाव आत्मा से रहित विना आत्मा के है, अपवर्ग—संसार और इन्द्रियों से पृथग्भाव मोक्षनामक भयङ्कर है, उसमें तो सब कार्यों का उपराम हो जाता है ऐसे सब इष्टों के वियोगरूप अपवर्ग में बहुत भद्रक—प्रशस्त

कल्याण लुप्त हो जाता है, कैसे बुद्धिमान् जन सब सुखों के उच्छेदक—अचैतन्य उस अपवर्ग को चाहे, इस प्रकार मिथ्या ज्ञान से स्वानुकूलों में राग प्रतिकूलों में द्वेष हो जाता है, रागद्वेषों के अधिकार—प्रभाव प्राबल्य या वशित्व से निन्दा ईर्ष्या छल लोभ आदि दोष हो जाते हैं। (क)

वा० भा०—दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचाऽनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सा नास्तिक्यं चेति, सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरिति, अथ शुभा—शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं चेति, वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति, मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति सेयं धर्माय। (ख)

भा० अनु०—उन दोषों—रागादि से प्रेरित हुआ मनुष्य शरीर से प्रवर्तमान—व्यवहार करता हुआ हिंसा, चोरी, प्रतिषिद्ध मैथुन—अन्यथा व्यभिचार का सेवन करता है, वाणी से असत्य, कठोर वचन, अतिनिन्दा, असम्बद्ध कथन सेवन करता है, मन से परद्रोह, परधन की इच्छा, नास्तिकता का आचरण करता है, वह यह पापरूपा प्रवृत्ति है अधर्म—अयोग्यस्थिति—पतन की ओर ले जाने के लिए है, और शुभ प्रवृत्ति है—शरीर से दान, परित्राण—रक्षा और परिचरण—सेवा करना, वाणी से सत्य हित प्रिय वचन और स्वाध्याय वेदाभ्यास करना, मन से दया, अस्पृहा—अलोलुपता और श्रद्धा यह धर्म—योग्य स्थिति—उत्थान की ओर ले जाने के लिये। (ख)

वा० भा—अत्र प्रवृत्तिसाधनौ धर्माधर्मौ प्रवृत्तिशब्देनोक्तौ यथा अन्नसाधनाः प्राणाः 'अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः' इति, सेयं प्रवृत्तिः

कुत्सितस्याभिपूजितस्य च जन्मनः कारणम् । (ग)

भा० अनु० यहां सूत्र में प्रवृत्ति के साधन धर्म अधर्म प्रवृत्ति शब्द से कहे गये हैं, जैसे अन्न ही प्राणियों का प्राण है, वह यह प्रवृत्ति निन्दित और प्रशंसित जन्म का कारण है (ग)

वा० भा०—जन्म पुनः शरीरेन्द्रियमनोबुद्धीनां निकायविशिष्टः प्रादुर्भावः, तस्मिन् सति दुःखम्, तत्पुनः प्रतिकूलवेदनीयं बाधना पीडा ताप इति । (घ)

भा० अनु०—जन्म है शरीर इन्द्रियों और बुद्धि के संस्थान से युक्त प्रादुर्भाव, उसके होने पर दुःख होता है, और वह प्रतिकूलरूप में अनुभव होने योग्य बाधना पीडा ताप नाम से कहा जाने वाला है । (घ)

वा० भा०—त इमे मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता धर्मा अविच्छेदेनैव प्रवर्तमानाः संसार इति । यदा तु तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयन्ति, दोषापाये प्रवृत्तिरपैति प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति,, जन्मापाये दुःखमपैति, दुःखापाये चात्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसमिति । (ङ)

भा० अनु०—वे ये मिथ्याज्ञान से लेकर दुःखपर्यन्त जीवन के के धर्म—व्यवहार निरन्तर चलते रहना ही संसार है, जब तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान हट जाता है तब मिथ्याज्ञान के हट जाने पर दोष रागद्वेषादि दूर हो जाते हैं, दोषों के हट जाने पर प्रवृत्ति हट जाती है प्रवृत्ति के हट जाने पर जन्म हट जाता है—जन्म नहीं होता है, जन्म के हट जाने पर—जन्म न होने पर आत्यन्तिक—सर्वान्त में

होने वाला सर्वथा दुःखान्तरूप अपवर्ग मोक्ष हो जाता है। (ङ)

वा० भा०—तत्त्वज्ञानं तु खलु मिथ्याज्ञानविपर्ययेण व्याख्यातम्—आत्मनि तावदस्तीति, अनात्मन्यनात्मेति, एवं दुःखेऽनित्येऽत्राणे सभये जुगुप्सिते हातव्ये च यथाविषयं वेदितव्यम्, प्रवृत्तौ—अस्ति कर्म, अस्ति कर्मफलमिति, दोषेषु दोषनिमित्तोऽयं संसार इति, प्रेत्यभावे खल्वस्ति जन्तुर्जीवः सत्त्व आत्मा वा यः प्रेत्य भवेदिति, निमित्तवज्जन्म निमित्तवान् जन्मोपरम इति, अनादिः प्रेत्यभावोऽपवर्गान्त इति, नैमित्तिकः सन् प्रेत्यभावः प्रवृत्तिनिमित्त इति, सात्मकः सन् देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां प्रवर्तत इति, अपवर्गे—शान्त खल्वयं सर्वविप्रयोगः सर्वोपरमोऽपवर्गः, बहु च कृच्छ्रं घोरं पापकं लुप्यत इति, कथं बुद्धिमान् सर्वदुःखोच्छेदं सर्वदुःखासंविदमपवर्गं न रोचयेदिति, तद्यथा मधुविषसम्पृक्तान्नमनादेयमिति, एवं सुखं दुःखानुषक्तमनादेयमिति। (च) ॥२॥

भा० अनु०—तत्त्वज्ञान तो मिथ्याज्ञान के विपरीत भाव से जानना चाहिये, आत्मा के सम्बन्ध में 'है आत्मा' यह तत्त्वज्ञान है, अनात्मा में अनात्मा — आत्मा का न होना मात्र, इस प्रकार दुःख में दुःख, अनित्य में अनित्य, अत्राण में अत्राण, सभय—भयस्थान में भयस्थान, निन्दित में निन्दित, त्याज्य में त्याज्य भी विषयानुसार जानना चाहिये, प्रवृत्ति में—देहेन्द्रियादि के प्रवर्तन में धर्माधर्म अदृष्टकृत कर्म है कर्मफल है, दोषों—रागद्वेष आदि में दोषनिमित्त हैं जिसके ऐसा संसार है अर्थात् दोष कारणों से संसार है, प्रेत्यभाव में—मर कर होने में—पुनः जन्म धारण में तत्त्वज्ञान

है कि है जन्तु या जीव या स्थिर सत्तावाला या आत्मा जो मर कर होवे—जन्म धारण करे, जन्म है निमित्तवाला — निमित्त से यथा-शास्त्र कर्म या मिथ्याज्ञान से, जन्मोपरम—जन्म धारण करने की समाप्ति निमित्तवाली है उसका तत्त्वज्ञान निमित्त है, प्रेत्यभाव अनादि प्रवाह से है और अपवर्ग पर्यन्त है, निमित्त वाला होता हुआ प्रेत्य-भाव प्रवृत्तिनिमित्त वाला सात्मक—आत्मसहित होता हुआ देह इन्द्रिय बुद्धि अनुभूति साधनों में कर्म के नाश और मेल द्वारा प्रवृत्त होता है, अपवर्ग—शान्त तथा सब प्रयोगों व्यवहारों से विगत अलग सर्वानिष्टों का उपरम जिसमें हो ऐसा अपवर्ग है तथा जिसमें बहुत कष्ट और घोर पाप भी लुप्त हो जाता है, सर्वदुःखों का उच्छेद नाश जिसमें हो सर्वदुःखानुभूतिरहित ऐसे अपवर्ग को कौन बुद्धिमान् न चाहे, जैसा विषसंयुक्त मधुर अन्न न ग्रहण करने योग्य है ऐसे दुःख-संयुक्त सुख भी न ग्रहण न करने योग्य है। (च) ॥२॥

(अव०) वा० भा०—त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति, तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः, तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्, लक्षितस्य यथालक्षण-मुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा, तत्रोद्दिष्टस्य प्रविभक्तस्य लक्षणमुच्यते यथा प्रमाणानां प्रमेयस्य च, उद्दिष्टस्य लक्षितस्य च विभागवचनं यथा छलस्य "वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्" (न्याय० १।२।१०) "तत् त्रिविधम्" (न्याय० १।२।११) इति, अथो-द्दिष्टस्य विभागवचनम्—

(अव०) भा० अनु०—इस न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति—वस्तुकथन-

पद्धति तीन प्रकार वाली है, उद्देश, लक्षण और परीक्षा। उन में केवल नाम द्वारा पदार्थ मात्र का कथन करना उद्देश है, उद्दिष्ट—नाम द्वारा कहे हुवे पदार्थ का अन्य पदार्थों से स्वरूप को विशिष्ट करने वाला धर्म लक्षण कहा है, लक्षित—स्वरूपविशिष्ट से ज्ञापित किये का प्रमाणों से निश्चय करना कि वह लक्षणानुसार है या नहीं परीक्षा कहाती है। उन में उद्दिष्ट—नाम द्वारा कथित यथा "प्रमाण······(न्याय १।१।१) प्रमाण नाम से तथा प्रविभक्त "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" (न्याय० १।१।३) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द ये चार प्रकार के प्रमाण हैं ऐसा प्रकृष्ट या प्रधान विभागों से कहे हुये का लक्षण "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं··· प्रत्यक्षम्···" (न्याय० १।१।४-७) प्रत्यक्ष प्रमाण आदि का लक्षण जैसे प्रमाणों का तथा "···प्रमेय···"(न्याय १।१।१) और "आत्मा-शरीरेन्द्रिय······प्रमेयम्" (न्याय० १।१।६) प्रविभक्त का लक्षण यथा "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुख दुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्" (न्याय०१।१।१० इच्छादि द्वारा, इत्यादि। क्वचित् उद्दिष्ट—नाम द्वारा कहे गए लक्षित—लक्षण द्वारा बतलाए हुए का विभाग—भेद—कथन है जैसे छल का "वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्" (न्याय०१।२।१०) में अर्थभेद से बन जाने से कथन का विघात करना—काट देना छल है ऐसा लक्षण कर देने के पश्चात् उसका विभाग करना कि "तत् त्रिविधम्" वह तीन प्रकार का है, इत्यादि शैली यहां न्यायदर्शन में मिलती है। सो उसमें प्रथम उद्दिष्ट—नाम द्वारा कहे हुए 'प्रमाण' का विभाग—भेद बताने वाला वचन या सूत्र है—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द नाम से कहे जाने वाले चार प्रमाण प्रसिद्ध हैं।

वा० भा०— अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्, वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा, यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षा बुद्धयः फलम्। अनुमानं मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्, उपमानं सामीप्यज्ञानम्—'यथा गौरेवं गवयः' इति, सामीप्यंतु सामान्ययोगः। शब्दः शब्द्यतेऽनेनार्थ इत्यभिधीयते—ज्ञाप्यते, उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोद्धव्यम् —प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः, तद्विशेषसमाख्ययापि तथैव व्याख्यातम्। (क)

भा० अनु०— अक्ष अक्ष – इन्द्रिय इन्द्रिय की अपने अपने विषय के प्रति वृत्ति—वर्तन—व्यवहार प्रत्यक्ष है, यहां वृत्ति तो सन्निकर्ष—सम्बन्ध है या ज्ञान है। जब सन्निकर्ष प्रत्यक्ष है तब ज्ञान प्रमिति—अनुभूति है, जब ज्ञान प्रत्यक्ष है तब ज्ञानानन्तर हेय—दुःख के लिए हान—त्यागबुद्धि सुख के लिए उपादान—ग्रहणबुद्धि, हेय उपादेय से भिन्न में उपेक्षाबुद्धि होना फल है, वस्तुतः सन्निकर्ष और ज्ञान का अभेद है साध्य साधन के सहचारी या समानकालीन होने से यहां सन्निकर्ष ज्ञानसहचारी है। अनुमान करते हैं मित—जाने हुए लिङ्ग—धर्म से लिङ्गी धर्मी वस्तु का लिङ्गदर्शन के पश्चात् ज्ञान ही अनुमान है अनु का पश्चात् अर्थ है। उपमान

है समीपता से हुआ ज्ञान 'जैसे गौ है वैसे गवय—नील गौ है' समीपता यहां सामान्य प्रसङ्ग—धर्मों की समानता है देश या काल की नहीं 'उप सामीप्ये' उप के समीप अर्थ होने से। शब्द है जिससे वस्तु या पदार्थ का कथन नामोच्चारण किया जावे कहा जावे जनाया जावे। प्रतीति के साधन प्रमाण हैं यह बात समाख्या—सङ्गत आख्या यौगिक संज्ञा के निर्वचन—व्युत्पत्ति सामर्थ्य से जानना चाहिए, जैसे प्रमिति—प्रतीति वस्तु की जिससे हो वह करण अर्थ को कहने वाला प्रमाण शब्द है, उसकी विशेष समाख्या—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द का भी वैसे ही ज्ञान करना — जानना चाहिए जैसा कि ऊपर दर्शाया है। (क)

वा० भा०— किं पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसम्प्लवन्ते ? अथ प्रतिप्रमेयं व्यवतिष्ठन्ते ? इति, उभयथा दर्शनम्—'अस्त्यात्मा' इत्याप्तोपदेशात् प्रतीयते, तत्रानुमानम् - "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्" (न्याय० १।१।१०) प्रत्यक्षम्—युञ्जानस्य योगसमाधिजम् —आत्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति। अग्निराप्तोपदेशात् प्रतीयते 'अत्राग्निः' इति प्रत्यासीदता धूमदर्शनेनानुमीयते प्रत्यासन्नेन च प्रत्यक्षत उपलभ्यते। (ख)

भा० अनु०—तो क्या वे सब प्रमाण प्रमेय—प्रमाणित करने योग्य पदार्थ के प्रति एक साथ मिल कर प्रवृत्त होते हैं साधते हैं या कि प्रति प्रमेय प्रमेय के अनुसार व्यवस्था से एक एक करके प्रवृत्त होते हैं ? दोनों प्रकारो को—देखा जाता है

जैसे 'आत्मा है' आप्तोपदेश शब्द प्रमाण से प्रतीत होता, साथ ही उसमें अनुमान भी है इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञान गुणों के पाये जाने से अदृष्ट आत्मा का अनुमान होता है। प्रत्यक्ष है आत्मा का योग करते हुए का योगसमाधि से प्रत्यक्ष आत्मा और मन के संयोग विशेष — अव्यवधान-रहित संयोग से आत्मा प्रत्यक्ष होता है, तथा 'यहां अग्नि है पास जाते हुए धूम दीखने से अनुमान कि है अग्नि, पास पहुँचे हुए से अग्नि प्रत्यक्ष दृष्ट हो जाने से, इस प्रकार एक प्रमेय-वस्तु में अनेक प्रमाणों का साधक बनकर एकत्र हो जाना सङ्गत हो जाना अभिसम्प्लव । है (ख)

वा० भा०—व्यवस्था पुनः 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः 'इति लौकिकस्य स्वर्गे न लिङ्गदर्शनं न प्रत्यक्षम्, स्तनयित्नुशब्दे श्रूयमाणे शब्दहेतोरनुमानं तत्र न प्रत्यक्षं नागमः, पाणौ प्रत्यक्षत उपलभ्य-माने नानुमानं नागम इति, सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा—जिज्ञासित-मर्थमाप्तोपदेशात् प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते,लिङ्गदर्श-नानुमितं च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते, प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते, पूर्वोक्तमुदाहरणम्, 'अग्निरिति' प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सङ्करोऽभिसम्प्लवः, असङ्करो व्यवस्थेति। (घ) ॥ ३ ॥

आ० अनु०— और व्यवस्था तो जैसे स्वर्ग—विशेषसुख को चाहने वाला अग्निहोत्र करे, यह केवल शास्त्र कथन शब्द प्रमाण है लौकिक जन के लिए न लिङ्गदर्शन है धूमलिङ्ग से जैसे अग्नि का अनुमान किया जाता है और न प्रत्यक्ष है—इस जन्म

में देखने को नहीं मिलता है, केवल शब्द प्रमाण का विषय है, ऐसे ही 'मेघ में स्तनयित्नु—गर्जन शब्द सुनने पर शब्द का हेतु कोई है वैद्युत शक्ति शब्दकारी अनुमान मात्र है उसमें न प्रत्यक्ष और न आगम है, हाथ में प्रत्यक्षप्राप्त आंवले आदि में न अनुमान न आगम, कहा भी हैं 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्'—प्रत्यक्ष में क्या प्रमाण। वह यह प्रमिति—प्रमाणों द्वारा प्रतीति या अनुभूति प्रत्यक्षाश्रय है प्रत्यक्ष चाहती है या प्रत्यक्ष पर समाप्त हो जाती है, जानने योग्य अर्थ को आप्तोपदेश से—शब्द प्रमाण से समझता हुआ लिङ्गदर्शन—अनुमान कराने वाले लिङ्गदर्शन से समझना चाहता है बुद्धि में बिठाना चाहता है, लिङ्गदर्शन से अनुमान किये हुए को प्रत्यक्ष देखना चाहता है, प्रत्यक्ष प्राप्त अर्थ पर जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है, पूर्वोक्त उदाहरण है 'अग्नि'। यहां प्रमाता का प्रमातव्य—प्रमाणों से साधने या जनाने योग्य अर्थ में प्रमाणों का सङ्कर—सम्मिश्रण 'अभिसम्प्लव' है और अमिश्रण व्यवस्था है। (घ) यह न्याय की पदार्थ, लक्ष्य प्रमाण प्रदर्शक त्रिसूत्री है। ॥ ३ ॥

(अव०) अथ विभक्तानां लक्षणमिति।

अब विभक्त—पृथक् पृथक् भेद से कहे हुए प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रत्येक करके लक्षण कहा जाता है—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥४॥

सूत्रार्थ—नेत्र आदि इन्द्रिय और उनके रूपादि विषय के सन्निकर्षसम्बन्ध से उत्पन्न, अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रिय का रूप आदि के

साथ सम्बन्ध होने से उत्पन्न हुआ अशाब्दिक व्यभिचाररहित - अबाधित न करने वाला निश्चयरूप ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है।

वा० भा०—इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्, न तर्हीदानीमिदं भवति—आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति ? नेदं कारणावधारणम्—एतावत् प्रत्यक्षे कारणमिति, किन्तु विशिष्टकारणवचनमिति, यत् प्रत्यक्षज्ञानस्य विशिष्टकारणं तदुच्यते, यत्तु समानमनुमानादि ज्ञानस्य न तन्निवर्तत इति। मनसस्तर्हीन्द्रियेण संयोगो वक्तव्यः ? भिद्यमानस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य नायं भिद्यत इति समानत्वान्नोक्त इति। (क)

भा० अनु०—नेत्र आदि इन्द्रिय का अर्थ अपने अपने विषय-वस्तु के साथ सम्बन्ध या संयोग से उत्पन्न होता है जो ज्ञान वह प्रत्यक्ष है। तो फिर क्या इस प्रत्यक्षकाल में यह नहीं होता है कि आत्मा मन से युक्त होता है फिर मन इन्द्रिय से युक्त होता है पश्चात् इन्द्रिय अपने विषय से युक्त होती है, फिर केवल इन्द्रिय और अर्थ का ही सन्निकर्ष क्यों कहा, प्रथम आत्मा और मन का पुनः मन और इन्द्रिय का योग होना भी तो कहना चाहिये यह आकांक्षा यहां प्रश्न में है (इसके उत्तर में कहा है) कि यह इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष कारण का नियमन या अवधि या इयत्तामात्र है कि इतना ही कारण प्रत्यक्ष में है ऐसा नहीं किन्तु विशिष्ट कारण अन्य प्रमाणों से अतिरिक्त तथा प्रत्यक्ष का विशेष कारण कहा है जो प्रत्यक्ष ज्ञान का विशिष्ट कारण कहा जाता है जो तो अनुमान आदि प्रमाण के ज्ञान का समान कारण है वह

निवृत्त नहीं होता है—वह तो है ही। अच्छा तो मन का इन्द्रिय से संयोग कह देना चाहिये? [प्रश्न अन्यथा प्रतिभासित होता है पूर्वप्रश्नान्तर्गत होने से, अथवा आंशिक लक्षण समाविष्ट करने की आकांक्षा से प्रश्न है] सो कहा है कि अन्य प्रमाणों से भेद को प्राप्त हुआ—इन्द्रियार्थसन्निकर्ष जो अनुमान आदि में नहीं होता है, ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान का मन और इन्द्रिय का संयोग कहना भेदक लक्षण नहीं है किन्तु वह मन इन्द्रिय संयोग तो समान है जैसा प्रत्यक्ष में वैसा अनुमान आदि में भी अतः नहीं कहा है। (क)

वा० भा०—यावदर्थं वै नामधेयशब्दास्तैरर्थसम्प्रत्ययोऽर्थसम्प्रत्ययाच्च व्यवहारः, तत्रेदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नमर्थज्ञानं रूपमिति वा रस इत्येवं वा भवति, रूपरसशब्दाश्च विषयनामधेयं तेन व्यपदिश्यते ज्ञानं रूपमिति जानीते रस इति जानीते नामधेयशब्देन व्यपदिश्यमानं सत् शाब्दं प्रसज्यते, अत आह–अव्यपदेश्यमिति। (ख)

भा० अनु०--जितने भी पदार्थ हैं उतने ही नाम वाले शब्द हैं उन नाम वाले शब्दों से उन अर्थों का बोध होता है, अर्थबोध से व्यवहार होता है घडा लाओ आदि व्यवहार में यह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न अर्थज्ञान रूप है या रस है ऐसा होता है, रूप रस शब्द विषयों—इन्द्रियविषयों के नाम हैं उससे कहा जाता है रूप को जानता है रस को जानता है यह नामवाचक शब्द से कहा जाता हुआ शाब्द ज्ञान—रूप शब्द मात्र रस शब्दमात्र भी प्रत्यक्ष में आ पडता है--प्रत्यक्ष हो जाता है अतः सूत्र में

कहा है 'अव्यपदेश्यम्' व्यपदेश्य—नाममात्र कहा जाने वाला न हो —शाब्द ज्ञान प्रत्यक्ष न हो सके। (ख)

वा० भा०—यदिदमनुपयुक्ते शब्दार्थसम्बन्धेऽर्थज्ञानं तन्नामधेयशब्देन व्यपदिश्यते, गृहीतेऽपि शब्दार्थसम्बन्धे 'अस्यार्थस्यायं शब्दो नामधेयम्' इति, यदा तु सोऽर्थो गृह्यते तदा तत् पूर्वस्मादर्थज्ञानान्न विशिष्यते तदर्थविज्ञानं तादृगेव भवति, न चाप्रतीयमानेन व्यवहारः, तस्माज्ज्ञेयस्यार्थस्य संज्ञाशब्देनेतिकरणयुक्तेन निर्दिश्यते—रूपमिति ज्ञानं रस इति ज्ञानमिति, तदेवमर्थज्ञानकाले स न समाख्याशब्दो व्याप्रियते व्यवहारकाले तु व्याप्रियते, तस्मादशाब्दमर्थज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति। (ग)

भा० अनु०—जो यह शाब्द—नाममात्र अर्थज्ञान अनुपयुक्त साक्षात् न घटित शब्द अर्थ सम्बन्ध में है वह नाममात्र शब्द से कहा जाता है, शब्दार्थसम्बन्धगृहीत—साक्षात् होने पर भी कि इस अर्थ—वस्तु के लिए यह शब्द नाम है, जब वह वस्तु साक्षात् हो जाती है तब वस्तुज्ञान पूर्ण ज्ञान—शाब्द ज्ञान से भिन्न नहीं होता है किन्तु वैसा ही होता है—रूप या रस जो होता है वही होता है जो शब्द से अभीष्ट है, परन्तु शब्दमात्र—नाममात्र में जिसमें कि अर्थ प्रतीयमान—साक्षात् नहीं, उस असाक्षात् अर्थ से गन्धप्राप्ति या रसप्राप्ति रूपप्राप्ति स्पर्शप्राप्ति या शब्दप्राप्ति व्यवहार नहीं होता, अतः जानने योग्य अर्थ वस्तु का नाम शब्द से 'रूपम् इति' इतिकरण—इति शब्द लगाकर निर्देश किया जाता है कि यह रूप ज्ञान है यह रस ज्ञान है, वह इस प्रकार अर्थज्ञानकाल

में समाख्याशब्द—संज्ञा शब्द व्यापृत नहीं होता—लागू नहीं होता है व्यवहार काल में व्यापृत होता है, अतः अशाब्द अर्थज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। (ग)

वा० भा०—ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा सन्निकृष्यन्ते तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षात् 'उदकम्' इति ज्ञानमुत्पद्यते तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यते, इत्यत आह—अव्यभिचारीति, यत्तु तस्मिन् तदिति तदव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति। (घ)

भा० अनु०—ग्रीष्म ऋतु में सूर्य किरणें पार्थिव उष्म--पृथिवी से निकलती हुई उष्णता से मिलकर स्पन्दन करती हुई—तरङ्गित होती हुई दूर स्थित प्राणी के नेत्र से सन्निकृष्ट होती हैं—सामने दृष्ट होती हैं उस समय इन्द्रियार्थसन्निकर्ष लक्षण से 'जल' है—जल वह रहा है यह ज्ञान उत्पन्न होता है परन्तु वह जल नहीं है केवल जल प्रतीत होता है—जल के उपलब्ध न होने से। वह भी प्रत्यक्ष हो जावे—प्रत्यक्ष श्रेणी में पडजावे, इसलिए कहा है 'अव्यभिचारी' जो अतत् में तत् प्रतीति—न वैसी वस्तु में वैसी वस्तु-प्रतीति है वह व्याभिचारी—बाधित—कट जाने वाली सीपी में चांदी का भान रस्सी में सर्प की प्रतीति आदि भी समझें। और जो तत् वैसी वस्तु में वैसी वस्तुप्रतीति है वह अव्यभिचारी-निर्बाध प्रतीति है वह प्रत्यक्ष है। (घ)

वा० भा०—दूराच्चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन् नावधारयति 'धूम इति वा रेणुरिति वा' तदतदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यते, इत्यत आह व्यवसायात्मकमिति। न

चैतन्मन्तव्यम्—आत्ममनःसन्निकर्षजमेवानवधारणज्ञानमिति । चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन् नावधारयति यच्चैतदिन्द्रियानवधारणपूर्वकं मनसाऽनवधारणं तद् विशेषापेक्षं विमर्शमात्रं संशयो न पूर्वमिति । सर्वत्र प्रत्यक्षविषये ज्ञातुरिन्द्रियेण व्यवसायः पश्चान्मनसाऽनुव्यवसायः, उपहतेन्द्रियाणामनुव्यवसायाभावादिति (ङ)

यह द्रष्टा दूर से नेत्र द्वारा देखता हुआ निश्चय नहीं कर रहा है कि धूम है या धूल है, वह यह इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न अनिश्चित ज्ञान या भान भी प्रत्यक्ष हो जावे, इस लिए कहा है 'व्यवसायात्मक' अर्थात् निश्चयात्मक हो, न कि संशयित । ऐसा न मानना चाहिए कि आत्मा और मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ ही अनवधारण अनिश्चित—संशयित ज्ञान है 'धूम है या धूल है' किन्तु यह द्रष्टा नेत्र से देखता हुआ निश्चय नहीं कर पाता है, जैसे ही इन्द्रियों से प्राप्त—सन्निकृष्ट अर्थ को मन से प्राप्त करता है—जानता है—निश्चित समझता है, इसी प्रकार इन्द्रिय से न निश्चिय करता हुआ—न जानता हुआ—न यथावत् ग्रहण करता हुआ मन से नहीं निश्चित कर पाता है 'धूम है या धूल है' जो इन्द्रिय द्वारा अनिश्चयपूर्वक मन से अनवधारण-अनिश्चय है वह विशेष की अपेक्षा रखता हुआ 'धूम ही है' या 'धूल ही है' ऐसा कह सके । ऐसा विशेष सामने न आता हुआ संशय है—अनिश्चय है, न कि पूर्व अर्थात् विना इन्द्रिय केवल आत्मा और मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न । समस्त प्रत्यक्ष विषय में ज्ञाता आत्मा का इन्द्रियद्वारा व्यवसाय—निश्चय होता है—संशय

निवृत्त हो जाता है पुनः आत्मा का मन से अनुव्यवसाय—पश्चाद्भावी निश्चय होता है, क्योंकि नष्ट इन्द्रिय—वाले का अनुव्यवसाय के अभाव से—उनका अनुव्यवसाय पश्चाद्भावी निश्चय नहीं होता। अतः 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्—इत्यनवद्यम्' इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न व्यवसायात्मक ज्ञान कथन करना प्रत्यक्ष है यह अनिन्दनीय है—आक्षेपरहित है (ङ)

वा० भा०—आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यम्, अनिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं हि तदिति ? इन्द्रियस्य वै सतो मनसः इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात्, भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि सगुणानां चैषामिद्रियभाव इति, सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिं चास्यै युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिकारणं वक्ष्याम इति, मनसश्चेन्द्रियभावात्तन्न वाच्यं लक्षणान्तरमिति, तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति, परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः, व्याख्यातं प्रत्यक्षम्। (च) ॥४॥

भा० अनु०—आत्मा आदि—आत्मा और ईश्वर तथा सुख आदि—सुख और दुःख के निमित्त प्रत्यक्ष लक्षण कहना चाहिए ये भी प्रत्यक्ष—साक्षात् होते हैं, परन्तु इनका प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से होने वाला नहीं है, केवल मन से होता है ? मन भी इन्द्रिय है, अतः इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कथन से इनका प्रत्यक्ष भी आ जाता है यह आकांक्षा यहां है; जब मन भी इन्द्रिय है तब इन्द्रियों से पृथक् उपदेश "आत्माशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन··" (न्याय० १।१।९) इस सूत्र में आचार्य ने क्यों किया, [इस

आकांक्षा को सम्मुख रखकर भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं कि] मन का इन्द्रियों से पृथक् उपदेश है धर्मभेद से कुछ धर्म दोनों के भिन्न भिन्न होने से, इन्द्रियां भौतिक हैं पृथिवी आदि भूत उन के उपादान हैं और नियतविषयवाली हैं—गन्ध रस रूप आदि विषय अपने अपने एक एक अलग अलग हैं अतएव इन्द्रियों का इन्द्र—आत्मा के साधन होना हैं, सगुण—गन्ध आदि गुणग्राहकता से, अथवा इनके आकार—प्रकार रूप स्पर्श अस्थि मांस आदि भी हैं। मन तो अभौतिक है और सर्वविषयवाला है—सभी गन्ध आदि के ग्रहण में अपेक्षित है, "एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।" (मनु० २।६२) ग्यारहवां मन इन्द्रिय अपने गुण से दोनों—कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के कार्य में प्रवृत्त होने वाला। मन का इन्द्रिय होना सगुणता से नहीं है—मन हाडमांस वाला लम्बा चौड़ा आदि गुणों से रहित है वह तरङ्गरूप है विद्युत् जैसा, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर इसकी सन्निधि इन्द्रियों के साथ सङ्गति और असन्निधि—असङ्गति को एक साथ ज्ञान की अनुत्पत्ति का कारण आगे "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" (न्याय० १।१।१६) कहेंगे। मन के भी इन्द्रिय होने के कारण पृथक् प्रत्यक्ष लक्षण नहीं कहना है अन्य शास्त्रों के समाचार सम्यक् विधान या सिद्धान्त से मन का इन्द्रिय होना जानना चाहिए, अन्य शास्त्र का मत जो अप्रतिषिद्ध है अपने शास्त्र में प्रतिषिद्ध नहीं वह अनुमत—माननीय है यह शास्त्र की शैली है प्रत्यक्ष प्रमाण की व्याख्या करदी है। (च) ॥४॥

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च ॥५॥

सूत्रार्थ—अब प्रत्यक्ष प्रमाण के अनन्तर तत्—वह प्रत्यक्ष प्रमाण पूर्व जिसके है वह प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान प्रमाण है, अनु—पश्चात् मान—ज्ञान का साधन अनुमान प्रमाण है तीन प्रकार वाला जो, पूर्ववत्—पूर्व अर्थात् कारण वाला [मतुप् प्रक्रिया से] कारण को देखकर, तथा पूर्व जैसा [तुल्यार्थवत् प्रक्रिया से] पूर्व जैसा देखा वैसा, शेषवत् कार्यवाला [मतुप् प्रक्रिया से] कार्य को देखकर, तथा शेष—परिशिष्ट को लेकर एवं सामान्यतो दृष्ट—सामान्य से देखा हुआ—कारण कार्य और पूर्व पश्चात् काल को अपेक्षित न करके सामान्य से देखा हुआ सामान्यतो दृष्ट अनुमान प्रमाण कहलाता है।

वा० भा०—तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बध्यते, लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्ग-स्मृतिरभिसम्बध्यते, स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते (क)

भा० अनु०—'तत्पूर्वक' इस कथन से लिङ्ग—धूम आदि लिङ्गी—अग्नि आदि का सम्बन्धदर्शन—धूम अग्नि से उठता हुआ प्रथम कहीं देखना पश्चात् अन्यत्र कहीं पर धूम देखना सम्बन्ध रखता है, इस प्रकार सम्बद्ध—एक साथ सङ्गत लिङ्ग—धूम आदि लिङ्गी—अग्नि आदि के दर्शन से उनकी स्मृति भी साक्षात् सम्बन्ध रखती है, पुनः स्मृति से पश्चात् लिङ्गदर्शन से अप्रत्यक्ष वस्तु भी जानी जाती है—अनुमान करी जाती है (क)

वा० भा०—पूर्ववदिति— यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति, शेषवत्—तद्यत्र कार्येण कारणमनुमीयते पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च, दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति, सामान्यतो दृष्टम्—व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र दर्शनमिति तथा चादित्यस्य, तस्मादस्त्यप्रत्यक्षाप्यादित्यस्य व्रज्योति (ख)

भा० अनु०—सूत्र में कहा हुआ पूर्ववत्—अनुमान है जहां कारण से कार्य का अनुमान किया जावे, कारण को देखकर कार्य की अभिव्यक्ति से पूर्व उसका अनुमान करना हो, जैसे मेघो की वृद्धि या घनता को देखकर वृष्टि होगी ऐसा पूर्व ही अनुनान करना। शेषवत् अनुमान वह है जहां कार्य से कारण का अनुमान करना—कार्य सम्मुख आ जाने पर पश्चात् उसके कारण का अनुमान करना हो—शेष पश्चाद्वर्ती पश्चात् हो चूका जो, जैसे नदी के पूर्व जल से विपरीत जल मैला तृणादियुक्त और नदी की पूर्णता तथा प्रवाह—बहाव की शीघ्रता को देखकर अनुमान किया जाता है कि ऊपर वृष्टि हुई। सामान्यतो दृष्ट अनुमान है जिसमें पूर्व पश्चात् कारण कार्य को लक्ष्य न करके सामान्य धर्म या नियम से अनुमान किया जावे वह सामान्यतो दृष्ट है जैसे अन्य स्थान में देखे हुए का अन्य स्थान में देखा जाना गतिपूर्वक है ऐसे ही आदित्य का स्थानान्तर होना—आदित्य की पूर्व से पश्चिम में प्राप्ति भी गतिपूर्वक है, गति में आकांक्षा है चाहे पृथिवी की गति से हो, चन्द्र ताराओं की स्थानान्तर प्राप्ति भी

गति पूर्वक है, जैसे पृथिवी पर देवदत्त आदि का स्थानान्तर प्राप्त होना गति पूर्वक है। (ख)

वा० भा०—अथवा पूर्ववदिति यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्य-तरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानं यथा धूमेनाग्निरिति, शेष-वन्नाम परिशेषः स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रययः, "सदनित्यम्" इत्येवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषेण सामान्यविशेषसमवायेभ्यो विभक्तस्य शब्दस्य, तस्मिन् द्रव्य-गुणकर्मसंशयेन द्रव्यम्—एकद्रव्यत्वात्, न कर्म शब्दान्तरहेतु-त्वात्, यस्तुशिष्यते सोऽयमिति शब्दस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः (ग)

भा० अनु०—अथवा उस त्रिविध लक्षण का अन्य व्याख्यान या प्रकार भी हो सकता है कि पूर्ववत्—जहां कहीं भी प्रत्यक्ष हुए लिङ्ग और लिङ्गी—धूम और अग्नि में किसी एक के दर्शन से—प्रत्यक्ष सम्मुख होने से, उनमें से किसी अन्य अप्रत्यक्ष का अनुमान हो जावे, जैसे धूम से अग्नि है या अग्नि से धूम उठेगा। शेषवत् है परिशेष—परितः बच जाने वाला, प्राप्त का प्रतिषेध हो जाने पर बचे हुए में निश्चय या सम्यक् प्रतीति हो जाती है जैसे "सदनित्यं द्रव्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेष-वदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः" (वैशेशिक द० १।१।८) इस वैशेषिक सूत्र में द्रव्यगुणकर्मों में अविशेष—सामान्य कहा है अर्थात् सत्—वर्तमान सत्ता वाला और अनित्य इन धर्मों से युक्त द्रव्य भी होता है गुण भी है कर्म भी है, शब्द अपने काल में वर्तमान होकर नष्ट हो जाता है अतः वह अनित्य है

सो यह शब्द द्रव्य है या गुण है या कर्म है इस विचारसरणि में आता है 'सामान्य, विशेष, समवाय' इन तीनों से विभक्त है पृथक् है क्योंकि ये तीनों भी द्रव्य गुण कर्मों में रहते हैं और नित्य भी है इनमें अनित्य होने का प्रसंग न होने से। शब्द इनसे भिन्न है ★ शब्द में द्रव्य, गुण, कर्म होने का संशय है इस संशय में विचार करते हैं — शब्द द्रव्य नहीं है एक द्रव्यवाला—एक आकाश द्रव्य के आश्रित होंने से, द्रव्य [कार्य द्रव्य] तो अनेक द्रव्यों [कारण द्रव्यों] के आश्रय होता है जैसे वस्त्र द्रव्य [कार्य द्रव्य] अनेक तन्तुओं [कारण द्रव्यों] के आश्रय होता है। कर्म भी नहीं है शब्दान्तर—अन्य शब्द को शब्द उत्पन्न करता है—शब्दसन्तानरूप शब्दध्वनियां चलाता है, कर्म को कर्म उत्पन्न नहीं करता है कर्म तो क्षणिक है तुरन्त समाप्त हो जाता है, अब जो परिशेष—सब के पश्चात् बच रहा वह शब्द है, शब्द का गुणत्व—शब्द गुण है यह सिद्ध हो गया। (ग)

वा० भा०—सामान्यतो दृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केन चिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते यथेच्छादिभिरात्मा, इच्छादयो गुणा गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः, तद् यदेषां स्थानं स आत्मेति। (घ)

भा० अनु०—लिङ्ग और लिङ्गी के जहां कहीं अप्रत्यक्ष सम्बन्ध

★"द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानाम्" (वैशेषिक० १।१।४) तत्वज्ञान में सामान्य विशेषसमवायों का प्रसङ्ग आने से विचार किया है।

में सामान्यतोदृष्ट अनुमान है वहां किसी प्रत्यक्ष अर्थ लिङ्गी के साथ प्रत्यक्ष लिङ्ग के सामान्य से अर्थात् रूप गुण का अग्नि के साथ सम्बन्ध है, रूप स्पर्श स्थूलत्व आदि गुण देह के साथ सम्बन्ध रखते है, तब इस सामान्य से अप्रत्यक्ष लिङ्गी का अनुमान किया जाता है जैसे इच्छा द्वेष सुख दुःख आदि से आत्मा जाना जाता है—उसका अनुमान किया जाता है,—क्योंकि इच्छा आदि गुण हैं ये अगुणवान् होने से द्रव्य नहीं और अदृश्य होने से कर्म नही अतः इच्छादि गुण हैं गुण होते हैं द्रव्य के आश्रय जो इनका आश्रय है आत्मा है, यह सामान्यतो दृष्ट अनुमान हुआ (घ)

वा० भा०—विभागवचनादेव त्रिविधमिति सिद्धे त्रिविध-वचनं महतो महाविषयस्य न्यायस्य लघीयसा सूत्रेणोपदेशात् परं वाक्यलाधवं मन्यमानस्यान्यस्मिन् वाक्यलाघवेऽनादरः, तथायमित्थ-म्भूतेन वाक्यविकल्पेन प्रवृत्तः सिद्धान्ते छले शब्दादिषु बहुलं समाचारः शास्त्र इति, सद्विषयं च प्रत्यक्षं सदसद्विषयं चानुमानम्, कस्मात् त्रैकाल्यग्रहणात्—त्रिकालमुक्ता अर्था अनुमानेन गृह्यन्ते, भविष्यतीत्यनुमीयते, भवति च, अभूदिति च। असच्च खल्वतीतम नागतं च। (ङ) ॥५॥

भा० अनु०—विभागवचन अर्थात् सूत्र में 'कहे' पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट' इस तीन प्रकार वाले विभाग कथन से ही तीन प्रकार वाला अनुमान है ऐसा सिद्ध हो जाने पर पुनः 'सूत्र में त्रिविधम्—अनु-मानम्, त्रिविध—तीन प्रकारवाला 'कथन करना है इसलिए कि चार

विद्याशास्त्रों में महान्—श्रेष्ठ तथा महाविषय—विस्तृत विषय वाले न्याय शास्त्र का छोटे—संक्षिप्त सूत्रवाक्य द्वारा उपदेश कर देने से—'करदिया' बस इस अधिक वाक्यलाघव—छोटे से सूत्रकथन को मानते हुए आचार्य न्यायसूत्ररचयिता गौतम का आगे और भी वाक्यलाघव—छोटा सूत्र बनाने में अनादर है—अरुचि है और यह वैसा समाचार—शिष्टप्रकार इस ऐसे वाक्यविकल्प—दो अर्थवाले पुनर्वचन वाक्यभेद से अर्थात् प्रकारसंख्या के कथन और प्रकारस्वरूप कथन से सिद्धान्त में छल में और शब्द आदि में बहुत मिलता है न्यायशास्त्र में। जैसे—सिद्धान्त में "तन्त्रभेदात्तु खलु चतुर्विधः—सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगम-संस्थित्यर्थान्तरभावात्" (न्याय० १।२।२७) यहां सर्वतन्त्र संस्थिति प्रतितन्त्र संस्थिति, अधिकरण संस्थिति, अभ्युपगमसंस्थिति स्वतः विभाग से चार प्रकार वाला सिद्धान्त स्पष्ट है तो भी 'चतुर्विधः' ऐसा भी कह दिया। छल में "तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छ-लमुपचारच्छलं चेति" (न्याय० १।२।११) यहां वाक्छल सामान्य-च्छल, उपचारच्छल तीन विभाग होते हुए भी "तत् त्रिविधं" ऐसा कह दिया है, शब्द में—शब्दप्रमाण में "आप्तोपदेशः शब्दः—स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्" (न्याय० १।१।८) दृष्टार्थ अदृष्टार्थ विभाग करदेने से, पुनः द्विविध—दो प्रकारवाला भी कह दिया इत्यादि। सत्—अर्थात् वर्तमान विषय वाला प्रत्यक्ष प्रमाण है—वर्तमान वस्तु का ज्ञान होता है 'सत्—असत्' वर्तमान और अव-र्तमान अर्थात् भूत और भविष्यत् का ज्ञान अनुमान का विषय है

क्योंकि अनुमान से तीनों कालों का ग्रहण होता है उससे भूत वर्तमान भविष्यत् के पदार्थों का ज्ञान होता है। वर्षा ऊपर हुई नदीजल के विपरीत दर्शन से, मेघ होने पर भी वर्षा नहीं हो रही प्रतिबन्धक है, घने भारी मेघ छागए वर्षा होगी इत्यादि। असत् कहते हैं अतीत—भूत और अनागत—जो नहीं आया—आनेवाले—भविष्यत् को, सत्—वर्तमान को कहते है यह अर्थापत्ति से स्पष्ट है। (ङ) ॥५॥

(अव) अथोपमानम्—

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥६॥

सूत्रार्थ—लोकप्रसिद्ध या साक्षात् समानधर्मता से जो वस्तु साध्य का साधन बन जावे वह उपमान [प्रमाण] है।

वा० भा०—प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति, यथा गौरेवं गवय इति। किं पुनरत्रोपमानेन क्रियते ? यदा खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतस्तमपि प्रतिपद्यत इति, समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ इत्याह। यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवय शब्दः संज्ञेति संज्ञा—संज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यत इति। 'यथा मुद्गस्तथामुद्गपर्णी यथा माषस्तथा माषपर्णी' इत्युपमाने प्रयुक्ते—उपमानात् संज्ञासंज्ञि-सम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्तामोषधीं भैषज्यायाहरति, एवमन्योऽप्युपमानस्य लोके विषयो बुभुत्सितव्य इति। ॥६॥

भा० अनु०— प्रज्ञात—प्रसिद्ध—लोकप्रसिद्ध या साक्षात्

ज्ञात वस्तु के साथ उसके सामान्य—समानरूप से प्रज्ञापनीय —प्रसिद्ध करने का प्रज्ञापन--प्रसाधन—प्रसिद्ध का साधन उपमान है, जैसे—गौ है ऐसा गवय है, यहां गौ प्रसिद्ध है इसके समान्य सींग खुर आदि आकृतिद्वारा प्रसिद्ध करने योग्य जनाने योग्य जाङ्गलिक पशु गवय को प्रसिद्ध--करने जनाने में साधन बनाना 'इव' शब्द के प्रयोग से उपमान प्रमाण से यहां क्या प्रयोजन सिद्ध किया जाता है ? उत्तर में—जब यह प्रमाता जङ्गल में गया हुआ गौ के समान धर्मवाले पशु को पाता है तो प्रत्यक्ष उसे पाता है उस समय समाख्या— यौगिक आख्या संज्ञा के सम्बन्ध की उस पशु में प्रतिपत्ति—सिद्धि होजाना उपमान का प्रयोजन है, जैसे गौ है वैसा गवय है इस उपमान के प्रयुक्त होने पर गौ के समान धर्मवाले पशु को इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उपलब्ध करता हुआ इसकी गवय संज्ञा है ऐसे संज्ञा और संज्ञी से सम्बन्ध को प्राप्त करता है। उस पशु को या उसके अभीष्ट सींग बाल मूत्र आदि को ले आता है। जैसे मुद्ग (मुंग की वेल है वैसे मुद्गपर्णी (मूंक के समान पत्ते वाली) लता है, जैसे माष (उडद की बेल) है वैसे माषपर्णी (उडद के ससमान पत्ते वाली) बेल है, ऐसे उपमान प्रमाण के प्रयुक्त हो जाने पर संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध को प्राप्त हुआ इस ओषधी को चिकित्सा के लिए ले आता है, संसार में एसे अन्य विषय—प्रयोजन भी उपमान से जानना चाहिये। ॥६॥

अथशब्दः—

अब शब्दप्रमाण कहा जाता है—

आप्तोपदेशः शब्दः ॥६॥

सूत्रार्थ—पूर्ण विद्यावान् का उपदेश शब्द प्रमाण है ।

वा० भा०—आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात्करणमर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्तत इत्याप्तः, ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणं तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्तन्त इति । एवमेभिः प्रमाणैर्देवमनुष्यतिरश्चां व्यवहाराः प्रकल्पन्ते नातोऽन्यथेति । ॥७॥

भा० अनु०—आप्त है जिसने धर्म—पदार्थस्वरूप या वस्तु-ज्ञान यथार्थज्ञान साक्षात् कर लिया अर्थात् यथादृष्ट—जैसा जाना पदार्थ वैसा दूसरों को जानने की इच्छा से प्रेरित हुआ उपदेशकर्ता, अर्थ—वस्तु का साक्षात् करना आप्ति है, उस आप्ति से प्रवृत्त है† । ऋषि—आर्य—म्लेच्छों का समान लक्षण है । ऋषिसमुदाय में आप्त ऋषि, आर्यों में आप्त आर्य और म्लेच्छों'—म्लेच्छदेशो में आप्त म्लेच्छ का वचन प्रमाण माना जाता है । ऐसे सबके व्यवहार सम्पन्न होते है, अन्यथा नहीं—बिना इसके नहीं ॥८॥

स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ॥८॥

सूत्रार्थ—वह शब्द दो प्रकार का है दृष्ट—प्रत्यक्ष इस लोक-विषयवाला होने से तथा अदृष्ट—परोक्ष—परलोकविषयवाला होने से ।

वा० भा०—यस्येह दृश्यतेऽर्थः स दृष्टार्थः, यस्यामुत्र प्रतीयते सोऽदृष्टार्थः, एवमृषिलौकिकवाक्यानां विभाग इति । किमर्थं

"† तेन प्रवतते—इत्यर्थेऽण् प्रत्यय आर्षः"

पुनरिदमुच्यते ? स न मन्यते दृष्टार्थ एवाप्तोपदेशः प्रमाणम्, अर्थस्यानुमानादिति ॥८॥

भा० अनु०—जिस शब्द का इस लोक में—इस जन्म में अर्थ—विषय फल दिखलाई पड़ता है वह दृष्टार्थ है कृषिविषयक शब्द का अन्नप्राप्ति आयुर्वैदिक चिकित्सावचन का रोग-निवृत्ति स्वास्थ्यप्राप्ति फल दृष्ट है। परलोक परजन्म में प्रतीत होवे भोगा जावे फल जिसका ऐसा शब्द दानपुण्यादिपरक अदृष्टार्थ है। इस प्रकार ऋषिवाक्यों — मन्त्रवचनों के और लौकिक वाक्यों का यह दो प्रकार का विभाग समान है। तो फिर किस लिये यह कहा है, वह साधारण जन न माने कि दृष्टार्थ ही आप्तोपदेश प्रमाण है अर्थ—विषय फल के प्रत्यक्ष--इस लोक में प्रसिद्ध होने से, वह अदृष्टार्थ—परोक्ष परलोक अर्थ—विषयफलवाला भी आप्तोपदेश प्रमाण है क्योंकि अर्थ—अदृष्टार्थ के भी अनुमान प्रमाण योग्य होने से, जैसे दृष्टार्थ वचन आप्तोपदेश है ऐसे अदृष्टार्थ आप्तोपदेश भी प्रमाण है। यहां तक प्रमाण विषय समाप्त ॥८॥

(अव०) किं पुनरनेन प्रमाणेनार्थजातं प्रमातव्यमिति ? तदुच्यते—

इस मानसाधक प्रमाणवर्ग से कौन अर्थजात प्रमेयवृन्द प्रमातव्य--ज्ञातव्य है? यह कहा जाता है—

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफल-दुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥९॥

सूत्रार्थ—आत्मा, शरीर, इन्द्रियां, इन्द्रियों के अर्थ—गन्ध आदि विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग--मोक्ष प्रमेय हैं—प्रमाणों से जानने योग्य हैं ।। ९ ।।

वा० भा०—तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टा, सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभवी, तस्य भोगायतनं शरीरम्, भोगसाधनानीन्द्रियाणि भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः,भोगो बुद्धिः, सर्वोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्तीति सर्वविषयमन्तःकरणं मनः। शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिसुखवेदनानां निर्वृत्तिकारणं प्रवृत्तिर्दोषाश्च, नास्येदं शरीरमपूर्वमनुत्तरं च, पूर्वशरीराणामादिर्नास्ति, उत्तरेषामपवर्गोऽन्त इति प्रेत्यभावः, ससाधनसुखदुःखभोग फलम्, दुःखमिति नेदमनुकूलवेदनीयस्य सुखस्य प्रतीते प्रत्याख्यानम्; किं तर्हि ? जन्मन एवेदं सुखदुःखसाधनस्य दुःखानुषङ्गात्--दुःखेनाविप्रयोगाद् विविधबाधनायोगाद् दुःखमिति समाधिभावनमुपदिश्यते, समाहितो भावयति, भावयन् निर्विद्यते निर्विण्णस्य वैराग्यं विरक्तस्यापवर्ग इति,जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदः सर्वदुःखप्रहाणमपवर्ग इति।, अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयं तद्भेदेन चापरिसंख्येयम्। अस्य तु तत्त्वज्ञानादपवर्गो मिथ्याज्ञानात् संसार इत्यत एतदुपदिष्टं विशेषेणेति ।। ९ ।।

भा० अनु०—उन प्रमेयों में आत्मा सब दृश्यों गन्ध आदि और दर्शन—नेत्र आदि इन्द्रियों का द्रष्टा—साक्षी और सबगन्ध आदि विषयों को भोगने वाला तथा सब का जानने वाला सब विषयों का अनुभवकर्ता, शरीर उसका भोग स्थान है जिस में रह कर भोग करता है इन्द्रियां भोग के साधन, इन्द्रियार्थ—इन्द्रियों के

अर्थ हैं भोगने योग्य, बुद्धि—भोग—गन्ध आदि की अनुभूति, मन—सब गन्ध आदि की उपलब्धि में इन्द्रियां समर्थ नहीं है अतः सर्वविषयवाला अन्तः करण—अन्दर का साधन मन है, प्रवृत्ति है शरीर इन्द्रिय अर्थ बुद्धि सुख वेदनाओं की सिद्धि का कारण दोष—राग द्वेष— आदि भी प्रवृति के कारण हैं। यह शरीर अपूर्व-जिस से पूर्व नहीं ऐसा नहीं और उत्तर—अन्तिम भी नहीं, पूर्व शरीरों का आदि नहीं है अगले शरीरों का अन्त अपवर्ग—मोक्ष है, यह मोक्षान्त प्रर्वतन प्रेत्यभाव है, फल है साधनों के सहित सुख दुःख अनुकूल वेदनीय सुख प्रतीति का प्रतिवाद नहीं, तो क्या है ? जन्म से ही यह सुखसाधन के दुःखानुषक्त होने से विविधबाधना—योग से दुःख है अतः समाधिभावना—योग समाधि के सम्पादन करने का उपदेश दिया जाता है, समाहित जन भावना करता है, समाधि भावना करने से संसार के प्रति ग्लानि करता है ग्लानि को प्राप्त हुआ वैराग्य वान् होजाता है, विरक्त का मोक्ष होजाता है, जन्ममरणक्रम का उच्छेद—सर्वदुःखप्रहाण—अपवर्ग हो जाता है। और भी द्रव्य गुणकर्म सामान्य विशेष समवाय प्रमेय है, उनके भेद से ये अगणित हैं इस प्रमेय वर्ग के तत्त्व ज्ञान से मोक्ष होता है मिथ्याज्ञान से संसार होता है, इस लिये ये विशेष रूप से कहे हैं ॥ ९ ॥

(अव०) तत्रात्मा तावत् प्रत्यक्षतो न गृह्यते स किमाप्तोपदेशमात्रादेव प्रतिपद्यत इति ? नेत्युच्यते, अनुमानाच्च प्रतिपत्तव्य इति कथम् ?—

उन प्रमेयों में आत्मा प्रत्यक्ष से—इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से गृहीत नहीं किया जाता है तो क्या वह केवल आप्तोपदेश से ही समझा जाता है ? सो ऐसा नहीं, किन्तु अनुमान से भी जानने योग्य है, सो कैसे कहते हैं—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥१०॥

सूत्रार्थ—'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान' ये छः आत्मा के लिङ्ग—धूमवत् [जैसे अग्नि का लिङ्ग धूम है ऐसा] लक्षण है, इनमें तीन कर्म हैं और तीन गुण हैं—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तो कर्म हैं, सुख दुःख ज्ञान गुण हैं, इनमें क्रमशः इच्छा तो सुख तथा सुख साधनों के लिये, द्वेष है दुःख तथा दुःख साधनों के लिये, इनको चरितार्थ करने के लिये या इनमें सफल होने के लिये प्रयत्न और ज्ञान हैं।

वा० भा०—यज्जातीयस्य सन्निकर्षात् सुखमात्मोपलब्धवान् तज्जातीयमेवार्थं पश्यन्नुपादातुमिच्छति सेयमुपादातुमिच्छा—एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानाद् भवन्ती लिङ्गमात्मनः, नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति। एवमेकस्यानेकार्थदशिनो दर्शनप्रतिसन्धानाद् दुःखहेतौ द्वेषः (क)।

भा० अनु०—जिस प्रकारवाले अर्थ सन्निकर्ष से आत्मा सुख को प्राप्त कर चुका उसी प्रकार वाले अर्थ को देखता—जानता हुआ लेना चाहता है वह यह लेने की इच्छा अनेकदर्शी के दर्शन और प्रतिसन्धान—सुखस्मरण से होती हुई आत्मा का लिङ्ग बुद्धिभेद मात्र—भिन्न-भिन्न बुद्धियां जो कि नियत विषय वाली घटपट आदि

या आम्र मोदक आदि भिन्न-भिन्न ज्ञानमात्र में यह न घट सकेगी विना आत्मा के, क्योंकि वे नियत विषय वाली भिन्न-भिन्न हैं, देहान्तर—भिन्न-भिन्न देहों की भांति जैसे एक देह—देहवान्—देहधारी देवदत्त के दर्शन का दूसरा देह—देहवान् देहधारी यज्ञदत्त प्रतिसन्धान—स्मरण नहीं कर सकता, ऐसे ही अनेकार्थदर्शी एक आत्मा के दर्शन प्रतिसन्धान से दुःख तथा दुःख हेतु में द्वेष आत्मा का लिङ्ग है, बुद्धिभेदमात्र—भिन्न-भिन्न बुद्धियों में नहीं। (क)

वा० भा०—यज्जातीयोऽस्यार्थः सुखहेतुः प्रसिद्धस्तज्जातीयमथं पश्यन्नादातुं प्रयतते सोयं प्रयत्न एकमनेकार्थदर्शिनं दर्शनप्रतिसन्धातारमन्तरेण न स्यात्, नियतविषये बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति, एतेन दुःखहेतौ प्रयत्नो व्याख्यातः। (ख)

भा० अनु०—जिस प्रकार वाला जैसा अर्थ सुख का हेतु प्रसिद्ध है उस प्रकारवाले अर्थ को जानता हुआ ग्रहण करने को प्रयत्न करता है वह यह प्रयत्न अनेकार्थदर्शी एक आत्मा के दर्शन प्रतिसन्धान के विना नहीं हो सकता है, नियत विषय वाले बुद्धिभेदमात्र—भिन्न भिन्न बुद्धियों में सम्भव नहीं है देहान्तर—भिन्न भिन्न देह—देहधारी देवदत्त यज्ञदत्त आदि की भांति। इसी प्रकार दुःख हेतु में भी दुःख दूर करने का प्रयत्न भी व्याख्यात समझें। (ख)

वा० भा०— सुखदुःखस्मृत्या चायं तत्साधनमाददानः सुखमुपलभते दुःखमुपलभते सुखदुःखे वेदयते पूर्वोक्त एव हेतुः। (ग)

भा० अनु—सुख की स्मति से यह आत्मा सुखसाधन को

ग्रहण करता हुआ सुख को प्राप्त करता है—सुख अनुभव करता है और दुःख की स्मृति से यह आत्मा दुःख साधन को लेता हुआ दुःख को प्राप्त करता है—दुःख अनुभव करता है पूर्वोक्त हेतु है अनेकार्थदर्शी एक आत्मा द्वारा ही सुख दुःख की स्मृत्ति होती है, भिन्न भिन्न बुद्धियों में नहीं देहान्तर की भांति (ग)

वा० भा०—बुभुत्समानः खल्वयं विमृशति—किं स्विदिति, विमृशँश्च जानीते—इदमिति, तदिदं ज्ञानं बुभुत्साविमर्शाभ्याम-भिन्नकर्तृकं गृह्यमाणमात्मलिङ्गं पूर्वोक्त एव हेतुरिति (घ)

भा० अनु०—जानना चाहता हुआ यह आत्मा विवेचन करता है कि क्या है? ऐसा विवेचन करता हुआ जानता है यह है, वह यह ज्ञान जिज्ञासा और विवेचन के द्वारा हुआ एक ही कर्ता वाला गृहीत हुआ आत्मा का लिङ्ग है पूर्वोक्त हेतु है (घ)

वा० भा०—तत्र देहान्तरवदिति विभज्यते—यथाऽनात्मवादिनो देहान्तरेषु नियतबिषया बुद्धिभेदा न प्रतिसन्धीयन्ते तथैकदेहवि-षया अपि न प्रतिसन्धीयरन्, अविशेषात् । सोयमेकसत्त्वस्य समाचारः—स्वयं दृष्टस्य स्मरणं नान्यदृष्टस्य नादृष्टस्येति । एवं खलु नानासत्त्वानां समाचारोऽन्यदृष्टस्यान्यो न स्मरतीति तदेतदु-भयमशक्यमनात्मवादिना व्यवस्थापयितुमिति । एवमुपपन्नम्—अस्त्या-त्मेति (ङ) ॥१०॥

भा० अनु०—उस विषय में विभाग किया जाता है—अना-त्मवादी—क्षणिक वादी—आत्मा को न मानने वाले के मत में भिन्न भिन्न देहों में नियतविषयवाले बुद्धिभेद प्रतिसन्धान नहीं कर

सकते उसी प्रकार एकदेहविषयक बुद्धिभेदों द्वारा भी प्रतिसन्धान को प्राप्त न हो सके। बुद्धिभेद तो समान ही रहा इससे। वह यह एक आत्मा का समाचार — सम्यक् आचार — सत्य सिद्धान्त है कि स्वयम् दृष्ट—जाने हुए का स्मरण होता है अन्य के दृष्ट—जाने हुए का स्मरण नहीं होता तथा अदृष्ट—न जाने हुए का भी स्मरण नहीं होता, इसी प्रकार नाना जीवों का सम्यक आचार—सिद्ध व्यवहार है कि अन्य का देखा अन्य जीव स्मरण नहीं कर सकता है, वह यह दोंनो बातें अनात्मवादी के द्वारा व्यवस्थित करना असम्भव है अर्थात् अन्य के दृष्ट का अन्य द्वारा स्मरण करना या अदृष्ट का स्मरण का स्मरण करना। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'आत्मा है' पूर्वोक्त इच्छा आदि का आश्रय।(ङ) ॥१०॥

(अव०) तस्य भोगाधिष्ठानम्—

उस आत्मा का भोगाश्रय—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥११॥

सूत्रार्थ—चेष्टा अर्थात् क्रियाओं या कर्मप्रवृत्तियों, इन्द्रियों और अर्थों—इन्द्रियार्थों—गन्धादि भोग्य वस्तुओं उन से प्राप्त होने वाले सुखदुःखों का आश्रय—आधार शरीर है, इन सब का प्रवर्तन एवं उपयोग और भोग शरीर स्थान पर होता है।

वा० भा०—कथं चेष्टाश्रयः? ईप्सितं जिहासितं वाऽर्थमधिकृत्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य तदुपायानुष्ठानलक्षणा समीहा चेष्टा सा यत्र प्रवर्तते तच्छरीरम्। कथमिन्द्रियाश्रयः? यस्यानुग्रहेणानुग्रहीतानि, उपघाते चोपहतानि स्वविषयेषु साध्वसाधुषु वर्तन्ते स एषामाश्रयः, तच्छ-

रीरम्। कथमर्थाश्रयः? यस्मिन्नायतने—इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नयोः सुखदुःखयोः प्रतिसंवेदनं प्रवर्तते स एषामाश्रयः, तच्छरीरम् ॥ ११ ॥

भा० अनु०—चेष्टाश्रय शरीर कैसे हैं? प्राप्त करने में इष्ट या त्यागने में इष्ट अर्थ—विषय को लक्ष्य कर प्राप्त करने की इच्छा तथा त्यागने इच्छा से प्रेरित आत्मा की जो वस्तुप्राप्ति और वस्तु-त्याग सम्बन्धी उपाय की सेवनरूप क्रिया या कर्मप्रवृत्ति है वह जहां प्रवृत्त होती है—चलती है वह शरीर है, इन्द्रियों का आश्रय कैसे है? जिसके अनुकूल होने—ठीक रहने पर अनुकूल—ठीक हुई और जिसके प्रतिकूल होने विकलित होने पर इन्द्रियां प्रतिकूल—विक-लित हुई अच्छे बुरे विषयों में वर्तती हैं व्यवहार करती हैं वह जिनका आश्रय है वह शरीर है। अर्थों—गन्धादि विषयों का आश्रय शरीर कैसे हैं? जिस आयतन में क्षेत्र में आधार में इन्द्रि-यार्थसन्निकर्ष—नेत्र आदि इन्द्रियों और उनके रूप आदि अर्थों के सन्निकर्ष—सम्बन्ध से उत्पन्न सुख दुःख का प्रतिसंवेदन—प्रतिभान—अनुभूतिज्ञान होता है वह इन रूपादि अर्थों का आश्रय है वह शरीर है ॥ ११ ॥

(अव०) भोगसाधनानि पुनः—

और भोग के साधन हैं—

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—नासिका जिह्वा नेत्र त्वचा श्रोत्र इन्द्रिया हैं पृथिवी आदि भूतों से बनी हुई भूतों के कार्य भौतिक हैं।

वा० भा०—जिघ्रत्यनेनेति घ्राणं गन्धं गृह्णातीति, रसयत्यनेनेति

रसनं रसं गृह्णातीति चष्टेऽनेनेति चक्षुः-रूपं पश्यतीति, स्पृशत्यनेनेति स्पर्शनं त्वक्स्थानमिन्द्रियं त्वक् तदुपचारः स्थानादिति । शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृह्णातीति । एवं समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद् बोधव्यम्, विषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणीति । भूतेभ्य इति नानाप्रकृतीनामेषां सतां विषयनियमो नैकप्रकृतीनाम्, सति च विषयनियमे स्वविषय-ग्रहणलक्षणत्वं भवतीति ॥१२॥

भा० अनु—सूंघता है जिस इन्द्रिय से वह घ्राण—नासिका गन्ध को ग्रहण करता है, रस लेता है जिस इन्द्रिय से वह रसना-जिह्वा रसग्रहण करता है, देखता है जिस इन्द्रिय से वह चक्षुरूप देखता है, स्पर्श करता है जिस से वह स्पर्श इन्द्रिय त्वक् [त्वचा खाल] त्वक् खाल में स्थान जिसका है ऐसी इन्द्रिय त्वक् है उसका उपचार गौणव्यवहार एक नाम स्थान से उपाधि से है यथा मञ्चस्थ ही मञ्च है, सुनता है इससे वह श्रोत्र शब्द को ग्रहण करता है इस प्रकार ये घ्राण आदि नाम समाख्या—यौगिक संज्ञा के निर्वचन—व्युत्पत्ति के सामर्थ्य से जानने चाहिए अपने अपने विषय को ग्रहण करना लक्षण जिनका है ऐसे नामों वाली इन्द्रियां हैं, भूतों से उत्पन्न हुई अर्थात् भिन्न भिन्न उपादानों वाली होती हुई का विषय नियम है घ्राण से गन्ध, रसना से रस, चक्षु से रूप त्वचा से स्पर्श श्रोत्र से शब्द ग्रहण किया जाना यह एक प्रकृति—एकोपादान वाली का नियम होगा घ्राण से गन्ध, जिह्वा से रस, नेत्र से रूप त्वचा से स्पर्श, कर्ण से शब्द ग्रहणं करने का नियम है अपने अपने नियम ग्रहण होना लक्षण होता है बनता ॥ २१ ॥

(अव०—कानि पुनरिन्द्रियकारणानीति—

अच्छा तो इन्द्रियों के कारण कौन हैं यह कहते है—

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पांच भूत हैं। पिछले सूत्र में 'भूतेभ्यः' भूतों से घ्राण आदि उत्पन्न हुए यह कहा था, वहां भूत पांच हैं जिन से इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई सो यथाश्रय इन भूतों से जाननी चाहिए।

वा० भा० - संज्ञाशब्दैः पृथगुपदेशो भूतानां विभक्तानां सुवचं कार्यं भविष्यतीति।

भा० अनु०—भूतों के संज्ञा शब्दों—नामवाचक शब्दों से पृथक् पृथक् उपदेश—वर्णन विभक्त—अलग अलग हुओं का कार्य सुगमता से कहने योग्य होगा अर्थात् एक एक भूत का क्रमशः एक एक इन्द्रिय है, एक एक भूत के विशेष गुण का दर्शक एक एक इन्द्रिय है॥ १३॥

(अव०) इमे तु खलु--

ये तो फिर—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द' ये क्रमशः पृथिवी आदि के गुण और कार्यभूत घ्राण आदि इन्द्रियों के अर्थ--विषय है।

वा० भा०—पृथिव्यादीनां यथाविनियोगं गुणा इन्द्रियाणां यथा क्रममर्था विषया इति॥ १४॥

भा० अनु—पृथिवी आदि भूतों के यथाक्रम गन्ध आदि गुण

हैं और घ्राण आदि इन्द्रियों के अर्थ विषय हैं ॥ १४ ॥

(अव०) अचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं वृत्तिः, चेतनस्याकर्तुरुपलब्धिरिति युक्तिविरुद्धमर्थं प्रत्याचक्षाणक इदमाह—

अचेतन करण बुद्धि की वृत्ति—प्रवर्तनशक्ति ज्ञान है और चेतन अकर्ता—ज्ञान न करने वाले [ज्ञान का करण न होते हुए] की वृत्ति—अनुभवशक्ति उपलब्धि—भोगप्रत्यक्षता होती है, इस युक्तिविरुद्ध अर्थ का प्रत्याख्यान करते हुए सूत्रकार ने यह सूत्र कहा है—

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ—बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान ये तीनों शब्द भिन्नार्थवाले नहीं हैं किन्तु एकार्थक हैं, तब बुद्धि का ज्ञान और आत्मा की उपलब्धि कहा जाना है इस शास्त्र में अभीष्ट नहीं।

वा० भा०—नाचेतनस्य करणस्य बुद्धे र्ज्ञानं भवितुमर्हति, तद्धि चेतनं स्यात्, एकश्चायं चेतनो देहेन्द्रियसंघातव्यतिरिक्त इति प्रमेयलक्षणार्थस्य वाक्यस्यार्थप्रकाशनमुपपत्तिसामर्थ्यादिति ॥१५॥

भा० अनु०—अचेतन करण बुद्धि का ज्ञान करना कार्य नहीं हो सकता है, यदि ज्ञान—ज्ञान करना उसका कार्य—धर्म हो तो वह भी चेतन हो जावे, परन्तु देह में इन्द्रिय समुदाय से अतिरिक्त यही आत्मा एक चेतन है। प्रमेयक्रमगत — बुद्धि प्रमेय का लक्षण करने के लिए वाक्य — सूत्र का अन्य अर्थात् उक्त शङ्कासमाधानपरक अर्थ से अन्य अर्थ प्रकाशन — क्रमगत बुद्धिलक्षणार्थ प्रकाशन उपपत्तिसामर्थ्य — व्युत्पत्तिसामर्थ्य से

जानना चाहिए 'बुध्यते ज्ञायते—इति बुद्धिः, — सैव उपलब्धिः —उपलभ्यते—इति—उपलब्धिः—तदेव ज्ञायते—इति ज्ञानम्' बोध होता है जो वह बुद्धि, उपलब्ध होती है वह उपलब्धि, जाना जाता है वह ज्ञान, यह इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदि से उत्पन्न भाव-रूप इस शास्त्र में है, ज्ञान का करण यहां मन है। 'प्रमेय लक्षणार्थस्य......' इसका अर्थ कुछ विद्वान् यह करते हैं कि प्रमे-यक्रमगत बुद्धि के लक्षणार्थ सूत्र का अन्यार्थ ज्ञान का करण बुद्धि के निषेधपरक अर्थप्रकाशक उपपत्ति सामर्थ्य—युक्तिसामर्थ्य से है इस अर्थ में प्रश्न यह बना रहता है कि सूत्र का बुद्धिलक्षणपरक अर्थ क्या है ? अतः पूर्वोक्त अर्थ ही ठीक है। ॥१५॥

(अव०) स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादि-प्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि, तेषु सत्सु, इयमपि—

स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिभा, स्वप्न, ज्ञान, ऊहा, सुख आदि का प्रत्यक्ष और इच्छा आदि मन के लिङ्ग हैं, उनके होते हुए भी यह अग्रिम सूत्र में कहीं—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।१६॥

सूत्रार्थ—इन्द्रियों का अधिष्ठाता आत्मा के होने से उसका इन्द्रियों का सदा सम्बन्ध रहते हुए भी युगपत् सब इन्द्रियों के एक साथ ज्ञान की अनुत्पत्ति—उत्पत्ति न होना मन का लिङ्ग है—द्योतक है। आत्मा को सब इन्द्रियों का ज्ञान एक साथ होना चाहिए परन्तु नहीं होता तो आत्मा और इन्द्रियों के मध्य में

कोई ऐसा पदार्थ है जो एक साथ सब ज्ञान कराने में बाधक और एक के ज्ञान कराने में साधक है। वह ऐसा पदार्थ मन है, यहां मन का लक्षण व्यतिरेक दृष्टि से दिया है।

वा० भा०—अनिन्द्रियनिमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तरनिमित्ता भवितुमर्हन्तीति। युगपच्च खलु घ्राणादीनां च सन्निकर्षेषु सत्सु युगपज्ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते तेनानुमीयते—अस्ति तत्तदिन्द्रिय-संयोगि सहकारि निमित्तान्तरमव्यापि यस्यासन्निधेर्नोत्पद्यते ज्ञानं सन्निधेश्चोत्पद्यत इति। मनःसंयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियार्थसन्नि-कर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञानानीति ॥ १६ ॥

भा० अनु—पूर्वोक्त अवतरण में कहे स्मृति आदि तो निश्चित रूप से नेत्र आदि इन्द्रियों के साध्य नहीं हैं, इन्द्रियां उनके नि-मित्तसाधन नहीं हैं किन्तु अन्य करणसाध्य होसकते हैं, और नासिका आदि इन्द्रियों तथा गन्ध आदि विषयों के सन्निकर्ष होने में युगपत् एक साथ ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं उससे अनुमान होता है कि उस उस इन्द्रिय के साथ संयोग करने वाला विषयग्रहण में सहायक उनसे भिन्न निमित्त—करण एकदेशी है, जिसके असन्निधान—अस-मीपता या असंयोग से युगपत् ज्ञान उत्पन्न नहीं होते, सन्निधान—किसी एक इन्द्रिय के समीप या संयोग होने से उस इन्द्रिय के विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष में मन के संयोग की अपेक्षा न हो—मन मध्य में संयोगकर्ता न होने पर युगपत् ज्ञान हो जाया करें, नहीं होते, अतः मन संयोगकारी अन्तःकरण अन्दर का करण है ॥ १६ ॥

(अव०) क्रमप्राप्ता तु—

प्रमेयों में क्रम प्राप्त है—

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः * ॥१७॥

सूत्रार्थ—प्रवृत्ति है वाक्—वाणी, बुद्धि—मन और शरीर का प्रवर्तन—व्यवहार ।

वा० भा०—मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतम्, बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिः। सोऽयमारम्भः शरीरेण वाचा मनसा च पुण्यः पापश्च दशविधः, तदेतत्कृतभाष्यं द्वितीयसूत्र इति ॥ १७ ॥

भा० अनु०—इस सूत्र में बुद्धि अभीष्ट है मन, बोध होता है इससे—ज्ञान होता है इससे, वह यह आरम्भ—प्रवर्तन या व्यवहार शरीर से, वाणी से, मन से दश प्रकार का पुण्यपापरूप है जो कि "जन्मप्रवृत्ति..." इस द्वितीय सूत्र में भाष्य द्वारा कहदिया गया है ॥१७॥

प्रवर्तनालक्षणा दोषाः ॥१८॥

सूत्रार्थ—प्रवर्तना—प्रेरणा—प्रवृत्ति में प्रेरणा करना है धर्म जिनका वे ऐसे शरीर वाणी मन द्वारा पुण्य-पाप में प्रेरित करने के धर्म वाले राग आदि दोष हैं ।

वा० भा०—प्रवर्तना प्रवृत्तिहेतुत्वम्, ज्ञातारं हि रागादयः प्रवर्तयन्ति पुण्ये पापे वा, यत्र मिथ्याज्ञानं तत्र रागद्वेषाविति । प्रत्यात्मवेदनीया हीमे दोषाः कस्माल्लक्षणतो निर्दिश्यन्ते ? इति कर्मलक्षणाः

---

* 'इति' शब्दः क्वचिदधिकः पाठोऽनावश्यकः । लेखकप्रमादकृतो वा भवतीति ॥ १८ ॥

खलु रक्तद्विष्टमूढाः, रक्तो हि तत्कर्म कुरुते येन कर्मणा सुखं दुःखं वा लभते, तथा द्विष्टस्तथा मूढ इति, रागद्वेषमोहा इत्युच्यमाने बहुनोक्तं भवतीति।

भा० अनु०—प्रवर्तना—प्रवृत्ति का हेतुभाव है, वे हेतुरूप हुए राग आदि दोष ज्ञाता आत्मा को पुण्य पाप में प्रवृत्त करते हैं, जहां मिथ्या ज्ञान वहां रागद्वेष होते हैं, ये राग द्वेष आदि दोष प्रत्यात्म-आत्मा में अनुभवनीय हैं—अनुभूत हैं किस लियेलक्षण करके कहे जाते हैं? सो इसलिये कि रक्त—रागवान्, द्विष्ट—द्वेष को प्राप्त हुआ द्वेषकर्ता और मूढ—मोह को प्राप्त हुआ—मोहकर्ता जन कर्म-लक्षण—कर्मपरायण होते हैं—कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं क्योंकि इनमें रक्त—रागी जन उस कर्म को करता है जिससे वह कभी सुख और कभी दुःख को प्राप्त होता है, द्वेषवान् तथा मोहयुक्त भी ऐसा कर्म करता है जिससे वह कभी सुख और कभी दुःख को प्राप्त होता है। राग द्वेष मोह इतने मात्र कहने पर—लक्षण 'प्रवर्तना—लक्षणा' न कहने पर बहु—विशद वर्णन संज्ञामात्र से न होता, अथवा कोई बहुत तो नहीं कहा गया, लक्षण तो कहना ही चाहिये था, यद्वा 'बहुना'—विस्तरेण—विस्तार से खोलकर कह दिया है—कह देना चाहिये ॥ १८॥

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ—"पुनः—पौनःपुन्ये" पुन पुनः उत्पत्तिहोना प्रेत्यभाव—मर कर जन्म पाने का क्रम चलते रहना।

वा० भा०—उत्पन्नस्य क्वचित् सत्त्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः उत्पन्नस्य सम्बद्धस्य, सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियमनो-

बुद्धिवेदनाभिः, पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः, पुनरित्यभ्यासाभिधानम्, यत्र क्वचित्—प्राणभृन्निकाये वर्तमानः पूर्वोपात्तान् देहादीन् जहाति तत्—प्रैति, यत् तत्रान्यत्र वा देहादीनन्यानुपादत्ते तद् भवति, प्रेत्यभावः—मृत्वा पुनर्जन्म' सोऽयं जन्ममरणप्रबन्धाभ्यासोऽनादिरपवर्गान्तः प्रेत्यभावो वेदितव्य इति ॥ १६ ॥

भा० अनु०—किसी जीवगृह—देह इन्द्रियों के समुदाय में उत्पन्न हुए का मरकर जो फिर उत्पत्ति है वह प्रेत्यभाव है, उत्पन्न का अर्थात् सम्बद्ध का—सम्बन्ध को प्राप्त हुए का, सम्बन्ध तो देह इन्द्रिय मन बुद्धि अनुभूति करणों के साथ होता है, पुनरुत्पत्ति—देहादि के साथ पुनः सम्बन्ध होना, 'पुनः' शब्द यहां सूत्र में अभ्यास—आवृत्ति पुनः पुनः के अर्थ को कहने वाला है। जहां प्राणधारी संस्थान में वर्तमान हो पूर्व प्राप्त देह आदि को त्यागता है वह 'प्रैति' मर जाता है कहा जाता है, जब वहां या अन्यत्र अन्य देह आदि को ग्रहण करता है वह 'भवति' होता है कहा जाता है, इस प्रकार 'प्रैति पुनः—भवति' प्रेत्यभाव—मर कर पुनर्जन्म है, वह यह जन्ममरणक्रम का चलते रहना अनादि और मोक्षपर्यन्त चलते रहना प्रेत्यभाव जानना चाहिए ॥ १६ ॥

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ॥ २० ॥

सूत्रार्थः—प्रवृत्ति—मन वाणी शरीर के द्वारा पुण्यपापाचरणों तथा दोषों—राग द्वेष मोह से उत्पादित अर्थ—सुखदुःखरूप विषय फल है।

वा० भा०—सुखदुःखसंवेदनं फलम्, सुखविपाकं कर्म दुःख-

विपाकं च तत् पुनर्देहेन्द्रियविषयबुद्धिषु सतीषु भवतीति सह देहादिभिः फलमभिप्रेतं तथा हि प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलमेतत्सर्वं भवति, तदेतत् फलमुपात्तमुपात्तं हेयं त्यक्तं त्यक्तमुपादेयमिति नास्य हानोपादानयोर्निष्ठा पर्यवसानं वास्ति, स खल्वयं फलस्य हानोपादानस्रोतसोह्यते लोक इति ॥ २० ॥

भा० अनु०—सुख दु ख का अनुभव करना भोगना फल है, सुख फल जिसका है ऐसा कर्म—पुण्यकर्म है, दुःख फल जिसका है ऐसा कर्म—पाप कर्म है, वह देह इन्द्रिय विषय बुद्धि के अन्दर होता है, इन देह आदि के साथ फल अभीष्ट है इसी कारण सूत्र में प्रवृत्तिदोषजनित अर्थ को फल कहा है, यह सब देह आदि भी फल है, उस इस फल देह आदि को ले लेकर त्यागना और त्याग त्याग कर लेना इस प्रकार इस फल के त्यागनें और लेने की निष्ठा—सीमा या अन्तस्थिति नहीं है, वह यह संसार फल के हान—त्याग और उपादान—ग्रहण रूप स्रोत—प्रवाह से निर्वाहित है—चल रहा है ॥२०॥

(अव०) अथैतदेव—

अब यह ही देह आदि फल सुखमिश्रित भी—

बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ—'बाधना बाध्यते पीड्यते यया सा' बाधा जाता है पीडित होता है जिसे प्राणी वहा पीडा, अन्त में देहादि सुख भी पीडा लक्षण में आ जाने से दुःख है ॥

वा० भा०—बाधना—पीडा—ताप इति, तयाऽनुविद्धमनुषक्तमविनिर्भागेन वर्तमानं दुःखयोगाद् दुःखमिति, सोऽयं सर्वं दुःखेनानु-

विद्धमिति पश्यन् दुःखं जिहासुर्जन्मनि दुःखदर्शी निर्विद्यते निर्विण्णो विरज्यते विरक्तो मुच्यते ॥ १२ ॥

भा० अनु०—बाधना है पीड़ा या ताप, उस बाधना से अनुगत अनुषक्त—अनुलिप्त उस से अपृथक्ता से वर्तमान—अविनाभाव से वर्तमान एवं दुःखयोग से दुःख है, वह यह मनुष्य सब दुःख से अनुविद्ध है ऐसा देखता हुआ—जानता हुआ दुःख को त्यागने की इच्छा करनेवाला जन्म में दुःखदर्शी हो ग्लानि करता है, ग्लानि करके विरक्त हो जाता है, विरक्त हुआ मुक्त हो जाता है॥२१॥

(अव०) यत्र तु निष्ठा यत्र तु पर्यवसानं सोऽयम्—

जहां तो आत्मा की नियत स्थिति—आत्मस्थिति या जहां तो दुःख का सर्वथा अन्त है वह यह—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥२२॥

सूत्रार्थ—उस दुःख का अत्यन्त छूट जाना अपवर्ग—मोक्ष है।

वा० भा०—तेन दुःखेन जन्मनात्यन्तविमुक्तिरपवर्गः। कथम ? उपात्तस्य जन्मनो हानमन्यस्य चानुपादानम्, एतामवस्थामपर्यन्तामपवर्गं वेदयन्तेऽपवर्गविदः, तदभयमजरममृत्युपदं ब्रह्मक्षेमप्राप्तिरिति (क)

भा० अनु०—'दुःखयतीति दुःखम' दुःख देता है जो वह दुःख उस दुःख देने वाले दुःखरूप जन्म [जन्मानन्तर ही दुःख होता है अतः दुःखरूप जन्म] के द्वारा या जन्म से संसृष्ट या जन्म के साथ होने वाले दुःख † की अत्यन्त विमुक्ति—अत्यन्त निवृत्ति अपवर्ग है,

† यह आकांक्षा है।

सो कैसे ? गृहीत—ग्रहण किए—धारण किए — लिए हुए जन्म का हान—त्याग और अन्य जन्म का ग्रहण न करना, इस असमाप्तावस्था को अपवर्ग समझते हैं—मानते हैं अपवर्ग वेत्ता विद्वान्, वह अजर अमृत्यु—मृत्युरहित—अमर पद तथा ब्रह्मक्षेम—ब्रह्मसंरक्षण—परमात्मशरण की प्राप्ति है †† (क)

वा० भा०—नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षे व्यज्यते तेनाभिव्यक्तेनात्यन्तं विमुक्तः सुखी भवतीति केचिन्मन्यन्ते, तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिः, न प्रत्यक्षं नानुमानं नागमो वा विद्यते 'नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यते' इति (ख)

भा० अनु०—मोक्ष में आत्मा का नित्य सुख महत्त्ववत्—अत्यन्त महान् नित्य सुख ❀ अतुल नित्य सुख व्यक्त हो जाता है उस अभिव्यक्त हुए अत्यन्त नित्य सुख से विमुक्त आत्मा अत्यन्त सुखी हो जाता है ऐसा कोई मानते हैं मान सकते हैं, उनके ऐसा मानने में प्रमाण के अभाव से—प्रमाण के न होने से अनुपपत्ति है—अयोग्यता है—अशक्यता है, क्योंकि ऐसा मानने में न प्रत्यक्ष प्रमाण है न अनुमान है और न आगम प्रमाण है कि मोक्ष में आत्मा का महत्त्ववान् नित्य सुख—अतुल नित्य सुख व्यक्त हो जाता है। (ख)

---

†† यह भाष्यकार वात्स्यायम को अभीष्ट है इसका खण्डन नहीं किया है यही वस्तुतः मोक्ष का स्वरूप वैदिक है।

❀ अत्यन्त दुःख निवृत्ति की तुलना में अत्यन्त सुखप्राप्ति कथन है।

वा० भा०—नित्यस्याभिव्यक्तिः संवेदनम्, तस्य हेतुवचनम्। नित्यस्याभिव्यक्तिः संवेदनं ज्ञानमिति, तस्य हेतुर्वाच्यो यतस्तदुत्पद्यत इति (ग)

भा० अनु०—नित्य सुख की अभिव्यक्ति संवेदन ज्ञान हो उसका हेतु कथन हो अर्थात् नित्य सुख के अभिव्यक्त होने प्रकट होने का साधन+ संवेदन—ज्ञान मुक्ति में उस नित्य सुख का अनुभव कराने वाला है ऐसा कहा जावे तो उसका हेतु कहना चाहिए जिससे वह ज्ञान उत्पन्न होता है (ग)

वा०भा० सुखवन्नित्यमिति चेत् ? संसारस्थस्य मुक्तेनाविशेषः।

यथा मुक्तः सुखेन तत्संवेदनेन च सन्नित्येनोपपन्नस्तथा ससारस्थोपि प्रसज्यत इति, उभयस्य नित्यत्वात् (घ)

भा० अनु०—सुखवत् नित्य है यदि कहा जावे तो संसारस्थ का मुक्त के साथ भेद न रहे—समान भाव हो जावे। अर्थात् जैसे मुक्त आत्मा नित्यसुख और उसके संवेदन से उपपन्न है—युक्त है× वैसे संसारस्थ आत्मा भी नित्यसुख से उपपन्न—युक्त हो जावेगा मुक्त आत्मा में स्थित और संसारस्थ—बद्ध आत्मा में स्थित संवेदन —ज्ञान के नित्य होने से, मुक्तात्मस्थ और बद्धात्मस्थ दोनों ओर

+ अभिव्यज्यतेऽनया साऽभिव्यक्ति; करणकारके क्तिन्—संवेदनमर्थाज्ज्ञानम्।

× 'यथा मुक्तः सन् नित्येन सुखेन तत्संवेदनेन च—उपपन्नः' इत्यन्वयः।

का ज्ञान नित्य ठहरने से, आत्मा दोनों हैं मुक्त हो, बद्ध हो, आत्मा का गुण ज्ञान है वह नित्य हुआ तो मुक्त आत्मा की भांति वद्ध आत्मा को भी नित्य सुख होना चाहिए (घ)

वा०भा०—अभ्यनुज्ञाने च धर्माधर्मफलेन साहचर्यं यौगपद्यं ग्रह्येत

यदिदमुत्पत्तिस्थानेषु धर्माधर्मफलं सुखं दुःखं वा संवेद्यते पर्यायेण तस्य च नित्यसंवेदनस्य च सहभावो यौगपद्यं गृह्येत न सुखाभावो नानभिव्यक्तिरस्ति, उभयस्य नित्यत्वात् (ङ)

भा० अनु०—संसारावस्था में भी नित्य सुख का ज्ञान स्वीकार करने पर धर्म अधर्म के फल सुख दुःख के साहचर्य यौगपद्य—एकसाथ ग्रहण होवे—भोगना पड़े। अर्थात् जो यह उत्पत्तिस्थानों में—शरीर आदि में धर्म का फल सुख और अधर्म का फल दुःख पर्याय से—वारी वारी से अलग अलग संवेदन में आता है—जाना जाता है उस सुख दुःख का नित्य संवेदन का सहभाव हो—एकसाथ ग्रहण हो क्योंकि संवेदन—ज्ञान नित्य होने से, उस नित्य ज्ञान में सुख दुःख भी नित्य आवेंगे, ज्ञान द्वारा सुख की और दुःख की प्रतीति होती है, सुख का ज्ञान भी नित्य है और दुःख का ज्ञान भी नित्य है दोनों सुख दुःख ज्ञानों के नित्य होने से सुख दुःख नित्य होंगे फिर पर्याय से—वारी वारी से नहीं हो सकेंगे पुनः दुःखकाल में भी न सुख का अभाव, न ज्ञान का अभाव होगा दोनों सुख और ज्ञान के नित्य होने से (ङ)

वा० भा०—अनित्यत्वे हेतुवचनम्।

अथ मोक्षे नित्यस्य सुखस्य संवेदनमनित्यम्, यत उत्पद्यते, स हेतुर्वाच्यः (च)

भा० अनु०—संवेदन—ज्ञान के अनित्य होने में हेतुवचन हो। अर्थात् यदि मोक्ष में नित्य सुख का संवेदन—ज्ञान अनित्य हो—नित्य नहीं, सदा बद्धावस्था में भी रहने वाला नहीं मोक्ष में हो जाने वाला हो तो फिर जिस से वह अनित्य संवेदन—ज्ञान मोक्ष में उत्पन्न होता है वह हेतु कहना चाहिये जो मोक्ष में नित्य सुख की प्रतीति करावे (च)

वा० भा०—आत्ममनःसंयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वम् ।

आत्ममनः संयोगो हेतुरिति चेत् ? एवमपि तस्य सहकारि निमित्तान्तरं वचनीयमिति (छ)

भा० अनु०—आत्मा और मन का संयोग हो तो उस निमित्तान्तर का हेतु हो। अर्थात् आत्मा और मन का संयोग उस संवेदन—ज्ञान की उत्पत्ति का हेतु है तो उस आत्मा और मन के संयोग का सहकारी—साथी अन्य निमित्त कहना चाहिये जो साधारण—सांसारिक सहकारी से भिन्न हो (छ)

वा० भा०—धर्मस्य कारणवचनम् ।

यदि धर्मो निमित्तान्तरम् ? तस्य हेतुर्वाच्यो यत उत्पद्यत इति (ज)

भा० अनु०—आत्मा और मन के संयोग में धर्म का कारण वचन हो। अर्थात् यदि आत्मा और मन के संयोग में धर्म अन्य निमित्त है तो उस धर्म का हेतु कहना चाहिए वह जिससे उत्पन्न होता है (ज)

वा० भा०—योगसमाधिजस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदननिवृत्तिः ।

यदि योग समाधिजो धर्मो हेतुः ? तस्य कार्यावसायविरोधात् प्रक्षये संवेदनमत्यन्तं निवर्ततेति (क्ष)

भा० अनु—योगसमाधिज धर्म के कार्यावसाय से विरोध होने से प्रक्षय—प्रलय में संवेदन की निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् मोक्ष में नित्य सुख का कारण योगसमाधि से उत्पन्न धर्म हेतु है तो उसका कार्यावसाय—कार्यों का अवसाय—कार्यों—उत्पन्न हुओं का अवसाय—नाश जिसमें हो जावे उस ऐसे प्रलय के साथ विरोध पड़ने से, उस समय प्रलय में तो उत्पन्नमात्र का नाश हो जाता है तब संवेदन ज्ञान भी अत्यन्त निवृत्त हो जाता है। (क्ष)

वा० भा०—असंवेदने+ चाविद्यमानेनाविशेषः।

यदि धर्मक्षयात् संवेदनोपरमे नित्यं सुखं न संवेद्यत इति, किं विद्यमानं न संवेद्यतेऽथाविद्यमानमिति ? नानुमानं विशिष्टेऽस्तीति (त्र)

भा० अनु—असंवेदन—निवृत्त संवेदन—संवेदन निवृत्त होजाने पर अविद्यामान नित्यसुख में कोई भेद नहीं। अर्थात् यदि धर्मक्षय—योगसमाधिज धर्म क्षय प्रलय में होजाने पर उस से उत्पन्न संवेदन—ज्ञान न रहेगा पुनः नित्य सुख का अनुभव न होगा, वह क्या विद्यमान नित्य सुख का अनुभव नहीं हो रहा होगा या अविद्यमान नित्य सुख का अनुभव नहीं हो रहा होगा, विशिष्ट अर्थात् हम से विशिष्ट विद्यमान नित्य सुख में अनुमान नहीं है (त्र)

वा०भा०—अप्रक्षयश्च धर्मस्य निरनुमानम्, उत्पत्तिधर्मकत्वात्।

योगसमाधिजो धर्मो न क्षीयत इति नास्त्यनुमानम्, उत्पत्तिधर्मक-

+ निवृत्ते संवेदने, इत्यर्थः।

मनित्यमिति विपर्ययस्य त्वनुमानम्' यस्य संवेदनोपरमो नास्ति तेन संवेदनहेतुर्नित्य इत्यनुमेयं नित्ये च मुक्तसंसारस्थयोरविशेष इत्युक्तम्। यथा मुक्तस्य नित्यं सुखं तत्संवेदनहेतुश्च, संवेदनस्य तूपरमो नास्ति कारणस्य नित्यत्वात् तथा संसारस्थस्यापिति, एवं च सति धर्माधर्मफलेन सुखदुःखसंवेदनेन साहचर्यं गृह्येतेति (ट)

भा० अनु—धर्म का अप्रक्षय हो यह अनुमानरहित है—इस में अनुमान नहीं है, उत्पत्तिधर्मवाला होने से योगसमाधिज धर्म के अर्थात् योगसमाधिज धर्म का क्षय—नाश नहीं होता इस में अनुमान नहीं है, क्योंकि उत्पत्तिधर्मवाला अनित्व होता है, इसके विपरीत —अनुत्पत्तिधर्मवाले का तो अनुमान है हाँ जिस के मत में तो संवेदन—ज्ञान का उपराम नहीं—नाश नहीं उसके द्वारा संवेदन—ज्ञान का हेतु [आत्मा] है, ऐसा अनुमान करना पडेगा, अनुमान से सिद्ध करना पडेगा, तब मुक्त संसारस्थ में भेद न रहेगा। यह जैसे कहा जाचुका है, जैसे मुक्त का नित्य सुख और उसका हेतु संवेदन —ज्ञान भी नित्य है, तब संवेदन—ज्ञान का उपराम—नाश—क्षय नहीं होगा [आत्मा] के नित्य होने से, वैसे ही संसारस्थ का भी संवेदन हेतु [अत्मा] नित्य होने से फिर नित्य सुख आपडेगा और ऐसा होने पर धर्म अधर्म के फल—सुख दुःख दोनों अनुभूत होने का साहचर्य—एकसाथ भोगप्रसङ्ग आजावेगा (ट)

वा० भा०—शरीरादिसम्बन्धः प्रतिबन्धहेतुरिति चेत् ? न, शरीरादीनामुपभोगार्थत्वात्, विपर्ययस्य चाननुमानात्।

स्यान्मतम्—संसारावस्थस्य शरीरादिसम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोः प्रतिबन्धकः, तेनाविशेषो नास्तीति ? एतच्चायुक्तम, शरीरादय उपभोगार्थास्ते भोगप्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यनुपपन्नम्, न चास्त्यनुमानमशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्तीति (ठ)

भा० अनु०—मुक्त के समान संसारावस्थ बद्ध का नित्यसुख संवेदन होने में शरीर आदि सम्बन्ध प्रतिबन्धरूप में हेतु है यदि ऐसा कहा जावे तो यह ठीक नहीं क्योंकि शरीर आदियों के उपभोगार्थ होने से, विपर्यय का अनुमान न होने से। अर्थात् यह मत हो कि यदि संसारावस्थ—बद्ध आत्मा का शरीर आदि सम्बन्ध नित्य सुखसंवेदनहेतु का प्रतिबन्धक—बाधक है उससे मुक्त और संसारावस्थ आत्मा की समानता न रहेगी तो यह कहना अयुक्त है क्योंकि शरीर आदि तो उपभोगार्थ हैं—उपभोगप्राप्ति के साधन है वे उपभोग का प्रतिबन्ध करेंगे यह नहीं बन सकता, और इसमें अनुमान भी नहीं है कि अशरीर—शरीररहित आत्मा का कोई भोग सांसारिक नित्य भोग हो (ठ)

वा० भा०——इष्टाधिगमार्था प्रवृत्तिरिति चेत् ? न, अनिष्टोपरमार्थत्वात्।

इदमनुमानम्—इष्टाधिगमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च मुमुक्षूणां नोभयमनर्थकमिति ? एतच्चायुक्तम्, अनिष्टोपरमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च मुमुक्षूणामिति। नेष्टमनिष्टेनाननुविद्धं सम्भवतीति, इष्टमप्यनिष्टं सम्पद्यते, अनिष्टहानस्य घटमान इष्टमपि जहाति विवेकहानस्याशक्यत्वात (ड)

भा० अनु०—मोक्ष में नित्य सुख संवेदन इष्ट है क्योंकि मनुष्य की इष्टप्राप्ति के अर्थ प्रवृत्ति होती है 'प्रयोजनमन्तरा मन्दोऽपि न प्रवर्तते' यह मोक्ष में नित्यसुखसंवेदन का अनुमान है, यदि कहा जावे तो ठीक नहीं, उपरमार्थ—नाशार्थ भी प्रवृत्ति होती है। अर्थात् मोक्ष के नित्य सुखसंवेदन में यह अनुमान है कि इष्ट—अभीष्ट की प्राप्ति के अर्थ मोक्ष का उपदेश और मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति होती है, ये दोनों बातें अनर्थक नहीं है, 'यदि ऐसा कहा जावे' यह कथन अयुक्त है क्योंकि अनिष्ट के नशार्थ भी मोक्षोपदेश और मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति होती है+और अनिष्ट से अमिश्रित इष्ट सम्भव नहीं इससे इष्ट भी अनिष्ट हो जाता है, अनिष्ट नाश के लिए प्रवृत्त हुआ जन इष्ट को भी त्याग देता है, विना ऐसा किए विवेकहान—विवेक से हान या विवेकपूर्वक हान—अनिष्ट त्याग विषमिश्रित जैसे अन्न का त्याग सर्वथा अनिष्ट त्याग असम्भव है विवेक से या विवेकपूर्वक हान तो तभी हो सकता है जबकि अनिष्ट की मात्रा किसी भी रूप में न रहे, अतः प्रसिद्ध इष्ट भी त्याज्य है (ङ)

वा० भा०—दृष्टातिक्रमश्च देहादिषु तुल्यः।

यथा दृष्टमनित्यं सुखं परित्यज्य नित्यसुखं कामयते, एवं देहेन्द्रियबुद्धीरनित्या दृष्टा अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्या देहेन्द्रियबुद्धयः कल्पयितव्याः, साधीयश्चैवं मुक्तस्य चैकात्म्यं कल्पितं भवतीति (ढ)

+मुक्ति या या मोक्ष का अर्थ दुःख से छूटना है यह स्वामी दयानन्द ने भी लिखा है (सत्यार्थ प्रकाश)

भा० अनु०— संसार में सुख अनित्य देखा गया मोक्ष में इसका अतिक्रम करना—नित्यसुखकल्पित है तो देहादि में तुल्य है अर्थात् अनित्य देहादि से भिन्न नित्य देहादि मोक्ष में कल्पित करने पडेंगे, और मुक्त का ऐकात्म्य शरीर आदि से भिन्न केवल आत्मत्व —आत्मभाव साधीय—उचिततर—वास्तविक है वह अन्यथा कल्पित होजावेगा (ढ)

वा० भा०—उपपत्तिविरुद्धमिति चेत् ? समानम् ।

देहादीनां नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति समानम् । सुखस्यापि नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति (ण)

भा० अनु०—मुक्त के नित्य देह आदि कल्पित करना उपपत्ति-विरुद्ध है, यदि ऐसा कहा जावे तो यह नित्य सुख भी मुक्त का कथन करना समान है उपपत्ति विरुद्ध है । अर्थात् मोक्ष में देह आदि का नित्यत्व प्रमाणविरुद्ध है न कल्पना करने योग्य है तो नित्यसुख भी प्रमाणविरुद्ध न कल्पना करने योग्य है (ण)

वा०भा०—आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनादागमेऽपि सत्यविरोधः ।

यद्यपि कश्चिदागमः स्यान्मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखमिति ? सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते, दृष्टो हि दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगो बहुलं लोक इति (त)

भा० अनु—दुःखों के अत्यन्त अभावरूप आत्यन्तिक संसार-दुःखाभाव में सुख वचन आगम—वैदिक वचन में होने पर भी

विरोध नहीं है। अर्थात् यद्यपि कोई आगम—मन्त्र होवे मुक्त को आत्यन्तिक सुख होता है जैसे "विद्यया ऽमृतमश्नुते" (यजु०४०।१४) ज्ञान से अमृत को प्राप्त कहता है * "तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्" (कठो० वल्ली ५।१०) परमात्मा के साक्षात्कर्ता जनों का शाश्वत सुख है अन्यों का नहीं। परन्तु वह ऐसा सुखशब्द आत्यन्तिक दुःखाभाव में प्रयुक्त हो यह सम्भव है, क्योंकि दुःखाभाव में सुख शब्द का प्रयोग लोक में बहुधा देखा गया है (त)

वा० भा० नित्यसुखरागस्याप्रहाणे मोक्षाधिगमाभावः, रागस्य बन्धनसमाज्ञानात् ।

यद्ययं मोक्षे नित्यं सुखमभिव्यज्यत इति नित्यसुखरागेण मोक्षाय घटमानो न मोक्षमधिगच्छेत्, नाधिगन्तुमर्हतीति। बन्धन-समाज्ञातो हि रागः, न च बन्धने सत्यपि कश्चिन्मुक्त इत्युपपद्यत इति (थ)

भा० अनु०—मोक्ष में नित्य सुख होता है उस नित्यसुखसम्बन्धी राग के अक्षीण होने—बने रहने पर मोक्षप्राप्ति का अभाव हो जायेगा, राग के बन्धनरूप प्रसिद्ध होने से। अर्थात् यह मुमुक्षु जन का 'मोक्ष में नित्य सुख अभिव्यक्त होता है' इस नित्य सुख के राग से प्रवर्तमान हुआ—यत्न करता हुआ मोक्ष को प्राप्त न हो सके—नहीं प्राप्त कर सकता है क्योंकि राग भी बन्धनसमकक्ष हैं—बन्धनरूप प्रसिद्ध है "रागविरागयोर्योगः सृष्टिः" (सांख्य) राग द्वेष का होना ही संसार है "राग एव बन्धनं नान्यद् बन्धन-

*"मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्"(ऋ० ७।५६।१२) मृत्यु से छूटूं अमृत से नहीं।

मस्ति" राग ही बन्धन है और बन्धन नहीं, फिर बन्धन होते हुए कोई आत्मा मुक्त है यह नहीं बनता है (थ)

वा० भा०—प्रहाणे † नित्यसुखरागस्याप्रतिकूलत्वम् ।

अथास्य नित्यसुरागः प्रहीयते, तस्मिन् प्रहीणे नास्य नित्यसुखरागः प्रतिकूलो भवति यद्येवं मुक्तस्य नित्यं सुखं भवति-अथापि न भवति नास्योभयोः पक्षयोर्मोक्षाधिगमो विकल्पत इति (द) ॥२२॥

भा० वा०—नित्य सुखराग के नाश में मोक्ष से प्रतिकूलता न होगी। अर्थात् यदि इस मुक्त का नित्य सुख का राग 'मोक्ष को साध कर Y' स्वयं प्रहीण—नष्ट हो जाता है तो प्रहीण—नष्ट हुए पर इस मुक्त का वह नित्य सुखराग—नित्य सुख का राग प्रतिकूल नहीं हैं—विरुद्ध नहीं पड़ता है, जब ऐसा है तो मुक्त का नित्यसुख होता है अथवा नहीं होता है इस मुक्त का दोनों पक्षों में मोक्षाधिगम —मोक्षप्राप्ति में विकल्प—भेद नहीं पड़ता राग न रहने से, मोक्ष में नित्यसुख नहीं है या नित्यसुख का राग नहीं है, दोनों स्थिति समान हैं, जैसे एक व्यक्ति ने विवाह नहीं किया गृहस्थ से वैराग्य है ब्रह्मचारी है दूसरे ने विवाह तो किया परन्तु स्त्री से राग नहीं है वैराग्य है तब स्त्रीरहित—ब्रह्मचारी और स्त्रीसहित विवाहित वैराग्यवान् में भेद न रहा, गृहस्थसुख का अभाव दोनों में समान है, नित्यसुख मोक्ष में नहीं होता या नित्यसुख का राग मोक्ष में नष्ट हो जाता है दोनों और मोक्ष में विरोध नहीं, अन्ततः मोक्ष में 'सांसारिक सुख समान' कोई नित्यसुख नहीं होता है यह सिद्धान्त स्थिर रहा (द) ॥२२॥

---

† 'प्रहाणे' विपक्षोक्तया, 'नित्यसुख ..' समाधानमुखेन ब्रवीति ।

Y 'मोक्षं प्रसाध्य स्वयमेव' इत्याकांक्षा ।

अव०—स्थानवत एव तर्हि संशयस्य लक्षणं वाच्यमिति तदुच्यते-
क्रमप्राप्त संशय का तो लक्षण कहना चाहिए सो कहा जाता है—

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्य-व्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ॥२३॥

सूत्रार्थ—अनेक स्थानों में समान धर्म की उपपन्नता से एक में अनेकों के धर्म की उपपन्नता से, विप्रतिपत्ति—विरुद्ध प्रतीति से, उपलब्धि की अव्यवस्था से, अनुपलब्धि की अव्यवस्था से, विशेष—निश्चित एक वस्तु की अपेक्षा—आकांक्षा रखता हुवा—विवेचन या निश्चयार्थ द्विधा विचार संशय है ॥

वा० भा०—समानधर्मोपपत्तेर्विशेषापेक्षो विमर्शः संशय इति, स्थाणुपुरुषयोः समानं धर्ममारोहपरिणाहौ पश्यन् पूर्वदृष्टं च तयोर्विशेषं बुभुत्समानः किंस्विदित्यन्यतरं नावधारयति तदनवधारणं संशयः। 'समानमनयोर्धर्ममुपलभे विशेषमन्यतरस्य नोपलभे' इत्येषा बुद्धिरपेक्षा संशयस्य प्रवर्तिका वर्तते तेन विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः (क)

भा० अनु०—अनेक वस्तुओं में तुल्य धर्मों की उपपन्नता—विद्यमानता से विशेष धर्म—एक की विशिष्टता पृथक्ता दर्शाने वाले धर्म की अपेक्षा—आकांक्षा या जिज्ञासा जिसमें हो ऐसा चिन्तन संशय है। जैसे—स्थाणु—शाखाहीन सूखे खड़े वृक्ष और पुरुष इन दो वस्तुओं में आरोह—ऊंचाई तथा परिणाह चौडाई समान धर्म को [दूर से अल्प प्रकाश में] देखता हुआ उनमें पूर्व देखे हुए विशेष धर्म को जानना चाहता हुआ यह क्या है—कौन है ? किसी एक को निश्चय नहीं कर रहा है वह यह अनिश्चय—निश्चयरहित ज्ञान—

संशय है कि मैं 'इन स्थाणु और पुरुष के समान धर्म को पा रहा हूं किसी एक के विशेष धर्म को नहीं पा रहा हूं'-यह ऐसी अपेक्षा बुद्धि —विशेष के विषय में जिज्ञासाबुद्धि संशय की प्रवर्तिका—जननी है 'तेन हेतुना' तिस उस हेतु विशेष की अपेक्षा आकांक्षा रखनेवाला विमर्श—चिन्तन संशय है (क)

वा० भा०—अनेकधर्मोपपत्तेरिति–समानजातीयमसमानजातीयं चानेकं तस्यानेकस्य धर्मोपपत्तेः—विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात्। समानजातीयेभ्योऽसमानजातीयेभ्यश्चार्था विशिष्यन्ते। गन्धवत्त्वात् पृथिवी, अबादिभ्यो विशिष्य गुणकर्मभ्यश्च। अस्ति च शब्दे विभागजत्वं विशेषः, तस्मिन् द्रव्यं गुणः कर्म वेति सन्देहः, विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात् किं द्रव्यस्य सतो गुणकर्मभ्यो विशेषः ? आहोस्विद् गुणस्य सत इति ? अथ कर्मणः सत इति विशेषापेक्षा, अन्यतमस्य व्यवस्थापकं धर्मं नोपलभे—इति बुद्धिरिति (ख)

भा० नु०—अनेकों के धर्मों की उपपन्नता—विद्यमानता से अर्थात् समानजातीय और असमानजातीय अनेक वस्तु, उस—उन अनेक वस्तु—वस्तुओं के धर्म की उपपत्ति—विद्यमानता से संशय होता है। विशेष के दोनों में दृष्ट—देख लिये जाने पर—परख लिये जाने पर समानजातियों से और असमानजातियों से अर्थ—पदार्थ विशिष्ट किये जाते हैं, जैसे गन्धवत्त्व—गन्धवाली—गन्धगुण से विशिष्ट होने से पृथिवी समानजातीय जल आदि द्रव्यों से भिन्न हो जाती है, और असमानजातीय गुणों तथा कर्मों से भी गन्धवाली —गन्ध गुण से विशिष्ट होने से भिन्न हो जाती है, अन्यथा पृथिवी द्रव्य है या गुण है या कर्म है संशय रहता, है पृथिवी सत्तावाली है सो

समान सातीय जल आदि भी सत्—सत्ता वाले हैं और असमान-जातीय गुण और कर्म भी सत्—सत्तावाले हैं, इसमें अनेकों का अर्थात् अनेक द्रव्यों गुणों कर्मों का धर्म सत् तथा अनेक द्रव्यों का रूप स्पर्श होने से सन्देह होता है, गन्धगुण उसे जलादि समान-जातीय द्रव्यों से भिन्न कर देता है और गन्धगुणवाली होने से उसका वह गुण असमानजातीय गुणों और कर्मों से भिन्न कर देता है क्योंकि गुण और कर्म गुणरहित होते हैं। ऐसे ही शब्द के विषय में संशय है, शब्द में विशेष धर्म है विभागजत्व—विभाग से उत्पन्न होना, सो उसमें संशय है कि शब्द द्रव्य है या गुण है या कर्म है क्योंकि सत् धर्म जो शब्द में सो तो द्रव्य गुण और कर्म में है ही पर "सदनित्यं" अनित्यत्व भी शब्द में जो कार्यद्रव्य और गुण तथा कर्म में है, विशेष के दोनों—समानजातीय गुणों और असमानजातीय द्रव्यों तथा कर्मों में देख लिये—परख लिये जाने पर अर्थात् क्या शब्द में विभागजत्व विभाग से उत्पन्न होना धर्म द्रव्य होते हुए है गुण कर्मों से भिन्न है या गुण होते हुए द्रव्य और कर्म से भिन्न है या कर्म होते हुए द्रव्य और गुण से भिन्न है, इस प्रकार विभागजत्व धर्म विशेष की अपेक्षा है तीनों में किसी एक व्यवस्थापक—निश्चायक धर्म को नहीं प्राप्त करता हूँ यह ऐसी बुद्धि ही संशय है। शब्द के सम्बन्ध में वात्स्यायन ने संशय का उद्धार नहीं दर्शाया जैसे पृथिवी के सम्बन्ध में दर्शाया था, वह शब्दविषयक संशय को उद्धार की विभागजत्व से उत्प्रेक्षा करें कि द्रव्य विभाग से नहीं किन्तु संयोग से उत्पन्न होता है जैसे अनेक

तन्तुओं के संयोग से वस्त्र द्रव्य उत्पन्न होता है, कर्म स्वयं विभाग को उत्पन्न करता है अन्य गुण द्रव्यसमवेत होते हैं विभाग से केवल शब्द ही उत्पन्न है वह गुण है (ख)

वा० भा० विप्रतिपत्ते रिति—व्याहतमेकार्थदर्शनं विप्रतिपत्तिः, व्याघातः—विरोधः—असहभाव इति, 'अस्त्यात्मा' इत्येकं दर्शनम् नास्त्यात्मा' इत्यपरम्, न च सद्भावासद्भावौ सहैकत्र सम्भवतः, न चान्यत्र साधको हेतुरुपलभ्यते तत्र तत्त्वानवधारणं संशय इति (ग)

भा० अनु०—विप्रतिपत्ति से संशय होता है एक वस्तुविषयक विरोधी ज्ञान या विरोधवाद या असह भाव—पृथक् पृथक मत वि-प्रतिपत्ति है, जैसे शरीर में शरीर से भिन्न चेतन सत्ता इसे चलाने वाला आत्मा है जिसके निकल जाने पर शरीर निश्चेष्ट होजाता है यह एक दृष्टि है—कथन है, शरीर से भिन्न शरीर में चेतन सत्ता नहीं है यह शरीर का ही स्वभाव है सचेष्ट जीवित रहना और निश्चेष्ट मरजाना है, एक ही वस्तु में ये दोनों बातें—है आत्मा, नहीं है, आत्मा सम्भव नहीं, साधारण जन को किसी एक पक्ष का साधक हेतु उपलब्ध नहीं होता है इस अवस्था में स्वरूप का अनिश्चित ज्ञान संशय है (ग)

वा० भा०—उपलब्ध्यवस्थातः खल्वपि—सच्चोदकमुपलभ्यते तडागादिषु, मरीचिषु चाविद्यमानमुदकमिति, अतः क्वचिदुपलभ्यमाने तत्त्वव्यवस्थापकस्य प्रमाणस्यानुपलब्धेः 'किं सदुपलभ्यतेऽथासत् ?' इति संशयो भवति (घ)

भा० अनु०—उपलब्धि की अव्यवस्था से भी संशय होता है, जैसे तडाग—तलाव आदि में विद्यमान जल भी उपलब्ध होता है—साक्षात् होता है और मरीचियों — रेतवाले मरुस्थानों में पहुंची किरणों में भी अविद्यमान जल साक्षात् होता है कहीं जल मिल जाने —देखे जाने पर निश्चय का व्यवस्थापक प्रमाण न मिलने पर संशय होता है कि होता हुआ जल मिलता है या न होता हुआ साक्षात् होता है (घ)

वा० भा०—अनुपलब्ध्यव्यवस्थात: सच्च नोपलभ्यते मूलकीलकादि, असच्चानुत्पन्नं निरुद्धं वा, तत: क्वचिदनुपलभ्यमाने संशय: किं सन्नोपलभ्यते, उतासदिति संशयो भवति, विशेषापेक्षा पूर्ववत् (ङ)

भा० अनु०—अनुपलब्धि की अव्यवस्था से भी संशय होता है जैसे सत्—विद्यमान—दृश्यमान जल उपलब्ध नहीं होता है जो मूलकीलक आदि— जल के मूल स्रोत के ऊपर कृत्रिम पारदर्शक निर्यासपट आवरण दिया जल हो जैसे युधिष्ठिर के सभाभवन में जल दीखता हुआ भी न था और असत्—अविद्यमान—अनुत्पन्न— न निकला या निरुद्ध—समाप्त—नष्ट जल नहीं मिलता है, इस प्रकार न मिलने की व्यवस्था न होने पर संशय होता है कि क्या होता हुआ नहीं मिलता या न होता हुआ नहीं मिलता विशेष की अपेक्षा पूर्व की भाँति है कि निश्चित कारण क्या है ? (ङ)

वा० भा०—पूर्व: समानोऽनेकश्च धर्मो ज्ञेयस्थ:, उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्ज्ञातृगते, एतावता विशेषेण पुनर्वचनम । समान धर्माधि-

गमात् समानधर्मोपपत्तेर्विशेषस्मृत्यपेक्षो विमर्श इति (च) ॥ २३ ॥

भा० अनु०—सूत्र में पूर्व कहे संशय का कारण—समान धर्म और अनेक धर्म ज्ञेय—जानने योग्य अर्थ—वस्तु में घटता है, और उपलब्धि तथा अनुपलब्धि ज्ञाता में प्राप्त हैं, इतने भेद से पुनः कथन किया है। समान धर्म के पाए जाने से समान धर्म की विद्यमानता से विशेष की स्मृति की अपेक्षा—आवश्यकता—आकांक्षा जिसमें हो वह विमर्श—विवेचन या चिन्तन संशय है (च) ॥ २३ ॥

(अव०) स्थानवतां लक्षणमिति समानम्—

आगे कहे जाने वालों में क्रमप्राप्त प्रयोजन आदि का लक्षण समान अर्थात् "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन···" इस सूत्रानुसार वर्णित किया जाता है—

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ—जिस अर्थ—वस्तु को लक्ष्य करके मनुष्य प्रवृत्त होता है वह प्रयोजन है।

वा० भा०—यमर्थमाप्तव्यं हातव्यं वाऽध्यवसाय तदाप्तिहानोपाय-मनुतिष्ठति प्रयोजनं तद् वेदितव्यम् प्रवृत्तिहेतुत्वादिममर्थमाप्स्यामि हास्यामि वेति व्यवसायोऽर्थस्याधिकारः, एवं व्यवसीयमानोऽर्थोऽधि-क्रियत इति ॥ २४ ॥

भा० अनु०—जिस प्राप्तव्य—प्राप्तकरने योग्य या हातव्य—त्यागने योग्य अर्थ—वस्तु को मन में धार कर उस की प्राप्ति या त्याग के उपाय का अनुष्ठान करता है उसे प्रयोजन जानना चाहिए। प्रवृत्ति का हेतु होने से, फि मैं इस अर्थ—वस्तु को प्राप्त करूंगा—

पाऊंगा या त्याग दूंगा ऐसा निश्चय या सङ्कल्पकर अर्थ—प्राप्तव्य या त्यागने योग्य का अधिकार—अधिकरण—आधार है, इस प्रकार निश्चय या सङ्कल्प में पाया जाता हुआ अर्थ पदार्थ अधिकृत होजाता है—लक्ष्य बनजाता है—प्रयोजन बनजाता है या प्रयोजन कहलाता है ॥ २४ ॥

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥२५॥

सूत्रार्थ—लौकिक—साधारण जनों और परीक्षकजनों—विवेचनकर्ता विद्वानों का बुद्धिसमभाव—एक मान्यता—समान स्वीकार जिस अर्थ—वस्तु में होजावे वह दृष्टान्त है।

वा० भा—लोकसामान्यमनतीता लौकिकाः, नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्ध्यतिशयमप्राप्ताः। तद्विपरीताः परीक्षकाः, तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति, यथा यमर्थं लौकिका बुध्यन्ते तथा परीक्षका अपि सोऽर्थो-दृष्टान्तः। दृष्टान्तविरोधेन हि प्रतिपक्षाः प्रतिषेद्धव्या भवन्तीति, दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीया भवन्तीति, अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पत इति ॥ २५ ॥

भा० अनु०—लोकसमान्य—लोकप्रसिद्ध प्रकार के अनुगतजन लौकिक हैं जोकि नैसर्गिक—निसर्गतः स्वतः प्राप्त—जन्मसिद्ध तथा वैनयिक—विनय-विद्याविनीतता से प्राप्त—शिक्षाजन्य ऊंची बुद्धि से रहित हों वे लौकिक है, उनके विपरीत परीक्षक जो कि तर्क और प्रमाणों द्वारा अर्थ—वस्तु का परीक्षण कर सकते हैं। जिस अर्थ को लौकिक समझते हैं उसी प्रकार परीक्षक भी जानते हैं वह दृष्टान्त है. धूम से अग्निसिद्धि में महानस—पाकशाला—रसोई

दृष्टान्त है, वहां धूम और अग्नि का सम्बन्ध लौकिक भी जानता है और परीक्षक भी। दृष्टान्त के विरोध से प्रतिपक्ष—प्रतिवादी के पक्ष—प्रतिकूल पक्ष प्रतिषिद्ध—खण्डित करने योग्य हैं और दृष्टान्त-समाधि—दृष्टान्त के सम्यक् आधान से बिठादेने से—दृष्टान्त की अनुकूलता से सङ्गति से अपने पक्ष स्थापन करने योग्य होजाते हैं, तथा सिद्धान्त के प्रतिज्ञा आदि अवयवों में दृष्टान्त उदाहरण के लिये समर्थ होता है॥ २५ ॥

(अव०) अथ सिद्धान्तः, इदमित्थम्भूतं चेत्यभ्यनुज्ञायमानमर्थजातं सिद्धम्, सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्तः, संस्थितिरित्थम्भावव्यवस्था धर्मनियम. स च खल्वयम्—

अब सिद्धान्त का स्वरूप दिखलाया जाता है यह ऐसा है—नित्य है या अनित्य है इत्यादि कहकर स्वीक्रियमाण अर्थमात्र—वस्तुरूप सिद्ध है उसकी संस्थिति—सम्यक् स्थिति—सिद्धान्त है, संस्थिति है उसकी इत्थभूत—ऐसा है—विवरण व्यवस्था या धर्म-नियम—स्वरूपनियति, उस स्वरूप नियति से युक्त सिद्धान्त है और वह यह है—

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थः—तन्त्रसंस्थिति—शास्त्र की संस्थापना, अधिकरण-संस्थिति अधिकरण—अधिकार—चालू प्रकरण से सिद्ध, अभ्यु-पगम—स्वीकाररूप सन्धारण, ये तीन प्रकार का सिद्धान्त है।

वा० भा०—तन्त्रार्थसंस्थितिः—तन्त्रसंस्थितिः, तन्त्रम्—इतरेतराभिसम्बद्धस्यार्थसमूहस्योपदेशः शास्त्रम्। अधिकरणानुषक्तार्थ-

संस्थितिरधिकरणसंस्थितिः, अभ्युपगमसंस्थितिरनवधारितार्थपरिग्रहः, तद्विशेषपरीक्षणायाभ्युपगमसिद्धान्तः ॥ २६ ॥

भा० अनु०—तन्त्र के अर्थों—तन्त्र में कहे विषयों की संस्थिति—संस्थापना है तन्त्रसंस्थिति सिद्धान्त है, तन्त्र है परस्पर क्रमशः सम्बद्ध विषयसमूह का उपदेश अर्थात् शास्त्र अधिकरण—अधिकार—विषयक्रम या चर्चाक्रम में अनुषक्त—अनुगत—अनुबद्ध सहचरित विषय की संसिद्धि अधिकरण संस्थिति सिद्धान्त है। अन्य अनिश्चित विषय का उसके विशेष परीक्षण के लिये स्वीकार करलेना अभ्युपगमसंस्थिति सिद्धान्त है ॥ २६ ॥

(अव०) **तन्त्रभेदात्तु खलु स चतुर्विधः**—

तन्त्र भेद—शास्त्र के भेद से तो वह सिद्धान्त चार प्रकार का है—

सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ—सर्वतन्त्र संस्थिति—सबशास्त्रों को मान्य, अमान्य किसी को न हो, प्रतितन्त्र संस्थिथिति—अपने विषय वाले उसी एक शास्त्र में वर्णित, अधिकरण संस्थिति, अभ्युपगम संस्थिति; ये भिन्न भिन्न होने से चार प्रकार का सिद्धान्त हुआ।

वा० भा०—तत्रैताश्चतस्रः संस्थितयोऽर्थान्तरभूताः ॥ २७ ॥

भा० अनु—सिद्धान्त वर्णन में ये चार संस्थियां भिन्न भिन्न स्वरूप वाली हैं ॥ २७ ॥

(अव०) तासाम्—

उनके मध्य में—

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ—सबशास्त्रों—अन्य शास्त्रों के अप्रतिकूल—प्रतिकूल न पड़े अपने विषय शास्त्र में अधिकृत—प्रस्तावित—वर्णित विषय सर्वतन्त्र सिद्धन्त है।

वा० भा०—यथा घ्राणादीनीन्द्रियाणि, गन्धादय इन्द्रियार्थाः, पृथिव्यादीनि भूतानि, प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति ॥ २८ ॥

भा० अनु०—जैसे नासिका आदि **इन्द्रियां है,** गन्ध आदि इन्द्रियों के अर्थ—विषय हैं, पृथिवी आदि भूत हैं और प्रमाणों द्वारा अर्थ—वस्तु का ग्रहण करना है, ये किसी शास्त्र में कहे हुए किन्ही अन्य शास्त्रों में न कहे हुए भी सर्वतन्त्र सिद्धान्त हैं॥ २८ ॥

समानतन्त्रासिद्धः परतन्त्रसिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ॥२९ ॥

सूत्रार्थः—समानतन्त्र—निज नैजिक शास्त्र में असिद्ध— अप्रसिद्ध—अदर्शित—अकथित हो परतन्त्र—अन्य शास्त्र में प्रसिद्ध—प्रदर्शित--कथित हो वह प्रतितन्त्र सिद्धान्त है।

वा० भा०—नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानम्, निरतिशयाश्चेतनाः, देहेन्द्रियमनःसु विषयेषु तत्कारणे च विशेष इति सांख्यानाम्, पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः,कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च, स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः, असदुत्पद्यते—उत्पन्नं निरुध्यते, इति योगानाम् ॥ २९ ॥

भा० अनु०—असत्—सर्वथा अविद्यमान का उत्पादन नहीं,सत्—सत्तात्मक—विद्यमान का स्वरूपनाश—सर्वनाश नहीं, विशेषण रहित

तुलनारहित चेतन—आत्माएं हैं, देहों में स्थूल कृश गौर कृष्ण आदि, इन्द्रियों में पटुत्व मन्दत्व सकलत्व विकलत्व आदि, मन में सत्त्व रजस्त्व तमस्त्व विषयों में यथाप्राप्त गन्धत्वादि और उनके कारण पृथिवी आदि में विशेष—विशेषणकृत भेद है यह सांख्य—ज्ञान प्रधानवादी शास्त्रों का मत है, मनुष्यों के कर्म आदि के कारण भूतसर्ग—प्राणिसृष्टि, राग आदि दोष और प्रवृत्ति—शरीर आदि का प्रवर्तन कर्महेतुक हैं, अपने अपने गुणों से विशिष्ट जीव हैं, असत्—अकार्य उत्पन्न होता है, उत्पन्न कार्य नष्ट हो जाता है यह योगों—कर्मयोगप्रधानशास्त्रों का मत प्रतितन्त्र सिद्धान्त—एकतन्त्र सिद्धान्त हुआ ॥ २९ ॥

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ—जिसकी सिद्धि में अन्य प्रकरण—प्रकरणगत अन्य-पदार्थ की सिद्धि हो जावे वह अधिकरण सिद्धान्त है।

वा० भा०—यस्यार्थस्य सिद्धावन्येऽर्था अनुषज्यन्ते न तैर्विना सोऽर्थः सिध्यति तेऽर्था यदधिष्ठानाः सोऽधिकरणसिद्धान्तः, यथा देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिभिः, अत्रानुषङ्गिणोऽर्थाः—इन्द्रियनानात्वम्, नियतविषयाणीन्द्रियाणि स्वविषयग्रहणलिङ्गानि ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि, गन्धादिगुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं गुणाधिकरणं, अनियतविषयाश्चेतना इति पूर्वार्थसिद्धावेतेऽर्थाः सिध्यन्ति, न तैर्विना सोऽर्थः सम्भवतीति ॥ ३० ॥

भा० अनु०—जिस अर्थ—पदार्थ की सिद्धि में अन्य अर्थ—पदार्थ अनुषक्त—अनुगत—सहयुक्त हो जाते हैं उनके विना वह

साधनीय अथ पदार्थ सिद्ध न हो सके, वे अन्य अर्थ पदार्थ जिसके आश्रित हों वह ऐसा सिद्धान्त अधिकरण सिद्धान्त है। जैसे—देह इन्द्रियों से भिन्न ज्ञाता आत्मा है दर्शन और स्पर्शन ज्ञानों द्वारा एक अर्थ--पदार्थ के ग्रहण आदि द्वारा एकार्थ के ग्रहण आदि व्यवहारों से नेत्र के दर्शन विषय का द्रष्टा और त्वक् के स्पर्शन विषय का स्प्रष्टा इन दोनों से अतिरिक्त एक है जो यह कहता है कि जिसे मैंने नेत्र से देखा था उसे मैं त्वक्--त्वचा से स्पर्श करता हूं, इस अनुभूति का कर्ता 'अहम्—मैं दोनों इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण-कर्ता दोनों इन्द्रियों से भिन्न ज्ञाता आत्मा है यह सिद्ध हो जाता है, इस प्रकार ज्ञाता आत्मा की सिद्धि में यहां आनुषङ्गिक—अनुगत सहयोगी अर्थ नेत्रत्वक् आदि भिन्न भिन्न इन्द्रियां अपने अपने रूपादि नियत विषय वाली; ज्ञाता आत्मा के विषयज्ञानार्थ साधन-रूप हैं, जो गन्ध आदि गुणरहित गन्ध आदि गुणज्ञान का अधिकरण द्रव्य है, शरीरों में चेतन आत्माएं नियत विषय वाली नहीं हैं, समस्त इन्द्रियार्थों के ग्रहण करने वाली हैं, इस प्रकार आत्मा की सिद्धि में ये इन्द्रिय आदि अर्थ भी सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि उन इन्द्रिय आदि के विना वह ज्ञाता आत्मा हो नहीं सकता —रह नहीं सकता या सिद्ध नहीं होसकता है॥

अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगम-सिद्धान्तः ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ—अपरीक्षित—अनिर्णीत के अभ्युपगम—चर्चा में सामने आजाने से उसके विशेष परीक्षण को—परीक्षणार्थ मान लेना अभ्युपगम सिद्धान्त है।

वा० भा०—यत्र किञ्चिदर्थजातमपरीक्षितमभ्युपगम्यते—

अस्तु द्रव्यं शब्दः, स तु नित्योऽथानित्यः ? इति द्रव्यस्य सतो नित्यताऽनित्यता वा तद्विशेषः परीक्ष्यते सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः, स्वबुद्ध्यतिशयचिख्यापयिषया परबुद्ध्यवज्ञानाय प्रवर्तत इति ॥३१॥

भा० अनु०—जहां कहीं चर्चा प्रसङ्ग में कोई भी अर्थ—वस्तुमात्र या विषय भी अपरीक्षित — अनिर्णीत अभिमुख कर लिया जावे प्रतिपक्षी का मान लिया जावे कि चलो शब्द द्रव्य हो पर वह नित्य है या अनित्य इस प्रकार द्रव्य मान कर भी उसकी **नित्यता या अनित्यता परीक्षणीय है,** वह यह अभ्युपगम सिद्धान्त है, अपनी बुद्धि का आधिक्य दर्शाने की इच्छा से और दूसरे की बुद्धि का न्यूनत्व दिखलाने के लिये या उसे दबाने के लिये प्रवृत्त होता है ॥ ३१ ॥

अव० अथावयवाः—

अब अवयव कहे जाते हैं—

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ—प्रतिज्ञा—पक्षस्थापना, यथा 'पर्वतो वह्निमान्' पर्वत में अग्नि है,हेतु—साध्यपक्ष का साधन, यथा 'धूमात्' धूम होने से, उदाहरण—उस जैसा दृष्टान्त' यो धूमवान् स वह्निन् मान्दृष्टो यथा महानसः। जो धूमवान् देखा वहां अग्नि है उपनय-'यथाऽयं महानसो धूमवान् सन्—वह्निमान् तथाऽयं पर्वतो धूमवान् सन् वह्निमान्' जैसे महानस—पाकशाला धूमवाली होती हुई अग्निवाली है वैसे पर्वत धूमवाला होने से अग्निवाला है, निगमन—'तस्माद् धूमात् पर्वतो वहि्नमान्' अतः धूम से पर्वत पर अग्नि है।

वा० भा०--दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये संचक्षते—जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं संशयव्युदास इति, ते कस्मान्नोच्यन्ते ? इति (क)

भा० अनु०—वाक्य में दश अवयवों को कुछेक नैयायिक घोषित करते हैं जो कि 'जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन, संशयव्युदास, हैं। वे क्यों नहीं कहे जाते हैं—क्यों नहीं कहे हैं ? (क)

वा० भा०—तत्राप्रतीयमानेऽर्थे प्रत्ययार्थस्य प्रवर्तिका जिज्ञासा, अप्रतीयमानमर्थं कस्माज्जिज्ञासते ? तं तत्त्वतो ज्ञातं हास्यामि वोपादास्ये वोपेक्षिष्ये वेति, ता एता हानोपादानोपेक्षाबुद्धयस्तत्त्वज्ञानार्थाः, तद-र्थमयं जिज्ञासते सा खल्वियमसाधनमर्थस्येति (ख)

भा० अनु०—उनमें अप्रतीयमान--न प्रतीत होने वाले अर्थ—नियम में प्रत्यय—ज्ञान है जिसका ऐसे ज्ञानर्थी की प्रवर्तिका प्रेरित करने वाली जिज्ञासा है, न प्रतीत होने वाले अर्थ को क्यों जानना चाहता है इस लिए कि यथावत् जाने हुए उस धर्म को अनिष्ट होने पर उसे त्याग दूंगा या अभीष्ट होने पर उसे ग्रहण करूंगा या इष्टा-निष्ट से अतिरिक्त को उपेक्षित करूंगा, वे ये हान—त्याग, उपादान —ग्रहण और उपेक्षा बुद्धियां तत्त्वज्ञान का फल है इस लिये जानना चाहता है वह यह जिज्ञासा अर्थ—विषय का साधन नहीं है अतः सूत्र में अवयवकोटि में नहीं रखा है। (ख)

वा० भा०—जिज्ञासाधिष्ठानं संशयश्च व्याहतधर्मोपसंघा-तात् क्व तत्त्वज्ञाने प्रत्यासन्नः ? व्याहतयोर्धर्मयोरन्यतरत् तत्त्वं

भवितुमर्हतीति स पृथगुपदिष्टोऽप्यसाधनमर्थस्येति (ग)

भा० अनु०—जिज्ञासा का आश्रय संशय है और वह दो विरोधी धर्मों के उपसंघात—उपसंघर्ष से होता है किस तत्त्वज्ञान में प्रतिप्राप्त—सम्बद्ध है ? अर्थात् किसी में नहीं, विरोधी दो धर्मों में कोई एक तत्त्व—यथार्थ हो सकता है, वह संशय "प्रमाणप्रमेय-संशय..." इस प्रथम सूत्र में पृथक् पढा हुआ भी अर्थ का साधन नहीं है अतः उसे अवयव में "प्रतिज्ञा..." (३२) सूत्र में नहीं दिया (ग)

वा० भा०—प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानि सा शक्यप्राप्तिर्न साधकस्य वाक्यस्य भागेन युज्यते प्रतिज्ञादिवदिति (घ)

भा० अनु०—प्रमाता-प्रमाणकर्ता के प्रमाण हैं प्रमेयों के ज्ञानार्थ यह शक्यप्राप्ति है जो साधक वाक्य के भागरूप से युक्त नहीं—प्रतिज्ञा आदि की भांति भाग नहीं, अतः यहां अवयवों में नहीं पढा है (घ)

वा० भा०—प्रयोजनं तत्त्वावधारणार्थम्, अर्थसाधकवाक्यस्य फलं नैकदेश इति (ङ)

भा० अनु०—प्रयोजन है वस्तुस्वरूप का निश्चय करना हान और उपादान के लिये, वह अर्थसाधक वाक्य का फल है, एक देश—भाग नहीं है, अतः यहां नहीं दिया है (ङ)

वा० भा०—संशयव्युदासः प्रतिपक्षोपवर्णनं तत्प्रतिषेधे तत्त्वाभ्यनुज्ञानार्थं न त्वयं साधकवाक्यैकदेश इति । प्रकरणे तु जिज्ञासादयः

समर्थाः, अवधारणार्थोपकारात। तत्त्वार्थसाधकभावात्तु प्रतिज्ञादयः साधकवाक्यस्य भागा एकदेशा अवयवा इति ॥ ३२॥

भा० अनु—संशयव्युदास है प्रतिपक्ष का उपवर्णन पुनः प्रतिपादन स्वपक्ष के प्रबल होने के हेतु अन्य पक्ष के अयथार्थ कथन परपक्ष के प्रतिषेध में तत्त्व के स्वीकारार्थ यह बात ऐसी ही है वह साधक वाक्य का एक देश नहीं हैं, अतः वह अवयवों में नहीं हां प्रकरण में,—प्रकरण चलाने में वाद चर्चा के आरम्भ करने में तो जिज्ञासा आदि समर्थ हैं अवधारणीय—निश्चय करणीय अर्थ के उपकार से उपयोगी से, तत्त्वार्थ के साधकरूप से तो प्रतिज्ञा आदि साधक वाक्य के भाग एक देश अवयव हैं (च) ॥ ३२॥

(अव०) तेषां तु यथाविभक्तानाम्—

यथा विभक्त—विभाग को प्राप्त हुए उन प्रतिज्ञा आदि के मध्य में—

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ—साधनीय विषय का कथन प्रतिज्ञा नाम का अवयव —पञ्चावयव वाक्य का अवयव है।

वा० भा०—प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः—'अनित्यः शब्दः' इति ॥ ३३ ॥

भा० अनु०—प्रज्ञापनीय—प्रख्यापनीय—प्रदर्शनीय धर्म से विशिष्ट धर्मी का स्वीकारवचन—स्वपक्षकथन प्रतिज्ञा है ॥ ३३ ॥

उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ॥३४॥

सूत्रार्थ—उदाहरण के समान धर्म होने से साध्य का जो साधन है वह हेतु है

वा० भा०—उदाहरणेन साम्यात् साध्यस्य धर्मस्य साधनं प्रज्ञापनं हेतुः, साध्ये प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणं च प्रतिसन्धाय तस्य-साधनतावचनं हेतुः—उत्पत्तिधर्मकत्वादिति, उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति ॥ ३४ ॥

भा० अनु०—उदाहरण के साम्य—तुलत्व से साध्य धर्म का साधन—प्रज्ञापन—जनानेवाला हेतु है जो साध्य में—साधनीय पक्ष में धर्म—समान धर्म को बिठाकर घटाकर तथा उस उदाहरण में भी घटाकर उसका साधनत्व कथन हेतु है, जैसे—उत्पत्तिधर्म-वाला होने से [शब्द के अनित्य होने में हेतु है उत्पत्ति धर्मवत्ता] उत्पत्ति धर्मवाला अनित्य देखा है [घडा आदि] ॥ ३४ ॥

(अव०) किमेतावद्धेतुलक्षणमिति ? नेत्युच्यते, किं तर्हि—क्या इतना ही हेतु का लक्षण है ? नहीं ऐसा कहते हैं तो क्या—

तथा वैधर्म्यात् ॥३५॥

सूत्रार्थ—उसी भांति उदाहरण के वैधर्म्य से भी साध्य का साधन हेतु होता है।

वा० भा०—उदाहरणवैधर्म्याच्च साध्यसाधनं हेतुः। कथम् ? अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्, अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं यथाऽऽत्मादि द्रव्यमिति ॥ ३४ ॥

भा० अनु०—उदाहरण के विपरीत धर्म से भी साध्य का साधन हेतु होता है कैसे ? जैसे—शब्द अनित्य है—नित्य नहीं है उत्पत्ति धर्म वाला होने से, अनुत्पत्तिधर्मवाला नित्य होता है जैसे आत्मा आदि द्रव्य ॥ ३५ ॥

साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥३६॥

सूत्रार्थ--साध्य—साधनीयवस्तु के समानधर्मता से तद्धर्म—उस साध्य के धर्म को अपने में भावित करने वाला अर्थात् साध्य-धर्मयुक्त दृष्टान्त उदाहरण है।

वा० भा०—साध्येन साधर्म्यं समानधर्मता, साध्यसाधर्म्यात् कारणात् तद्धर्मभावी दृष्टात इति, तस्य धर्मस्तद्धर्मः, तस्य साध्यस्य। साध्यं च द्विविधम्—धर्मिविशिष्टो वा धर्मः—शब्दस्यानित्यत्वम, धर्मविशिष्टो वा धर्मी—अनित्यः शब्द इति, इहोत्तरं तद्ग्रहणेन गृह्यत इति, कस्मात्? पृथग्धर्मवचनात्। तस्य धर्मस्तद्धर्मस्तद्धर्मस्य भावस्तद्धर्मभावः स यस्मिन् दृष्टान्ते वर्तते स दृष्टान्तः साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी भवति स चोदाहरणमिष्यते। तत्र यदुत्पद्यते तदुत्पत्ति-धर्मकं तच्च भूत्वा न भवति, आत्मानं जहाति निरुध्यते—इत्यनित्यम, एवमुत्पत्तिधर्मकत्वं साधनम्, अनित्यत्वं साध्यम्, सोऽयमेकस्मिन् द्वयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावः साधर्म्याद् व्यवस्थित उपलभ्यते, तं दृष्टान्ते—उपलभानः शब्देऽप्यनुमिनोति शब्दोऽप्युत्पत्तिधर्मकत्वाद-नित्यः स्थाल्यादिवदिति। उदाह्रियतेऽनेन धर्मयोः साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम् ॥ ३६ ॥

भा० अनु०—साध्य के साथ साधर्म्य—समानधर्मता, साध्य के साधर्म्य रूप कारण से—साध्य के समान धर्मत्व को कारण मानकर तद्धर्मभावी जो दृष्टान्त है वह उदाहरण है। तद्धर्मभावी अर्थात् उसका धर्म--साध्य का धर्म हुआ, साध्य दो प्रकार का है, एक तो धर्मी से विशिष्ट-सम्बद्ध धर्म—समानविभक्ति में धर्मी का कथन,

जैसे 'अनित्यः शब्दः' 'अनित्य शब्द है' यहाँ 'तद्धर्मभावी' में उत्तर-अगला अर्थात् धर्मी 'तत्' के ग्रहण करने से लिया जाता है, क्यों? 'तद्धर्मभावी' में पृथक् 'धर्म' कहने से 'तस्य धर्मः'—उस साध्य का धर्म—तद्धर्म, तद्धर्म का भाव, पुनः वह जिस दृष्टान्त में है वह दृष्टान्त साध्य के समान धर्मत्व से—समानधर्मजैसे स्थिति रखने वाला होने से 'तद्धर्मभावी' है और उदाहरणरूप में अभीष्ट है, उस में जो उत्पन्न होता है वह उत्पत्तिधर्म वाला है, वह होकर फिर नहीं होता है—नहीं रहता है अपने स्वरूप को त्याग देता है—नष्ट हो जाता है बस यह अनित्य है, इसी प्रकार उत्पत्तिधर्मकत्व—उत्पत्तिधर्मवाला होना साधन है, अनित्यत्व—अनित्य होना साध्य है, वे दोनों साध्य और साधन का साध्यसाधनभाव एक में साध्य धर्म वाले धर्मी में साधर्म्य से व्यवस्थित उपलब्ध होता है, उसको दृष्टान्त में प्राप्त करता हुआ शब्द के अन्दर भी अनुमान करता है कि शब्द भी उत्पत्तिधर्मवाला होने से अनित्य है स्थाली—हाण्डी घड़े आदि की भांति। दोनों साध्यसाधन के धर्मों का साध्यसाधनभाव इसके द्वारा उदाहृत किया जाता है अतः वह उदाहरण है ॥३६॥

'तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ—उस साध्य के विपर्यय—वैधर्म्य से भी विपरीत—भिन्न धर्मवाला उदाहरण होता है।

वा० भा०—'दृष्टान्त उदाहरणम्' इति प्रकृतम्। साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदारणमिति, अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्, अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि, सोऽयमात्मादि दृष्टान्तः साधर्म्यवैध-

म्यादनुत्पत्तिधर्मकत्वादतद्धर्मभावी, योऽसौ साध्यस्य धर्मोऽनित्यत्वं स तस्मिन्न भवतीति, अत्रात्मादौ दृष्टान्ते—उत्पत्तिधर्मकत्वस्याभावादनित्यत्वं न भवतीति— उपलभमानः शब्दे विपर्ययमनुमिनोति— उत्पत्तिधर्मकत्वस्य भावादनित्यः शब्द इति (क)

भा० अनु०—'दृष्टान्त उदाहरण है' यह पूर्व सूत्र से चालू है, अतः इस सूत्र का अर्थ हुआ कि साध्य के वैधर्म्य से अर्थात् उस साध्य के विरुद्ध धर्म रखने वाला दृष्टान्त विपरीत उदाहरण है, जैसे शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्म वाला होने से, अनुत्पत्तिधर्म वाला नित्य है आत्मा आदि, वह यह आत्मा आदि दृष्टान्त साध्य के वैधर्म्य से अनुत्पत्तिधर्मवाला होने से साध्य के धर्मवाला नहीं है, जो यह साध्य का धर्म होना है वह उस दृष्टान्त में नहीं है, यहां आत्मा आदि दृष्टान्त में उत्पत्तिधर्मकत्व के अभाव से अनित्यत्व नहीं है यह उपलब्ध करता हुआ शब्द में विपर्यय—विरुद्धर्म का अनुमान करता है कि उत्पत्तिधर्मवाला होने से शब्द अनित्य है (क)

वा० भा०—साधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्, वैधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्, पूर्वस्मिन् दृष्टान्ते यौ तौ धर्मौ साध्यसाधनभूतौ पश्यति साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति, उत्तरस्मिन् दृष्टान्ते ययोर्धर्मयोरेकस्याभावदितस्याभावं पश्यति तयोरेकस्याभावादितरस्याभावं साध्येऽनुमिनोतीति, तदेतद्धेत्वाभासेषु न सम्भवतीत्यहेतवो हेत्वाभासाः, तदिदं हेतूदाहरणयोः सामर्थ्यं परमसूक्ष्मं दुःखबोधं पण्डितरूपवेदनीयमिति (ख) ॥३७॥

भा० अनु०—साधर्म्य से कहे हेतु का साध्य के समानधर्म होने से साध्यधर्म वाला दृष्टान्त उदाहरण होता है, साध्य के विरुद्ध धर्म से कहे हेतु का साध्य के विरुद्ध धर्म वाला दृष्टान्त उदाहरण होता है, पूर्व दृष्टान्त हाण्डी घड़े आदि में साध्य साधनरूप जो दो धर्म प्रमाता देखता है साध्य'शब्द' में भी उन दोनों के साध्य साधनभाव का अनुमान करता है, अगले दृष्टान्त आत्मा आदि में जिन दोनों धर्मों में से एक के अभाव से दूसरे के अभाव का साध्य में अनुमान करता है, वह यह हेत्वाभासों में सम्भव नहीं है, अहेतु—जो हेतु नहीं वे ही हेत्वाभास हैं, वह यह हेतु और उदाहरण का सामर्थ्य साध्य का साधक होना अत्यन्त सूक्ष्म कठिनता से समझ में आने वाला पण्डित सरीखे ऊंचे विद्वानों द्वारा अनुभवनीय—जानने योग्य है (ख) ॥३७॥

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति

वा साध्यस्योपनयः ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ—उदाहरण को अपेक्षित करने वाला अर्थात् उदाहरणानुसार 'तथा-इति' वैसा यह है या 'न तथा-इति' वैसा नहीं यह है दर्शाकर साध्य का उपसंहार करना उपनय है।

वा० भा०—उदाहरणापेक्षः—उदारणतन्त्रः — उदाहरणवशः। वशः सामर्थ्यम्। साध्यसाधर्म्ययुक्ते—उदाहरणे स्थाल्यादिद्रव्यमुत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टं तथा शब्द उत्पत्तिधर्मक इति साध्यस्य शब्दस्योत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते। साध्यवैधर्म्ययुक्ते पुनरुदाहरणे—आत्मादिद्रव्यमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टं न च तथा शब्द इत्यनुपत्ति-

धर्मकत्वस्योपसंहारप्रतिषेधेन—उत्पत्तिधर्मकत्वमुपसंह्रियते, तदिदमुपसंहारद्वैतमुदाहरणाद्वैताद् भवति। उपसंह्रियतेऽनेनेति चोपसंहारो वेदितव्य इति। द्विविधस्य पुनर्हेतोर्द्विविधस्य चोदाहरणस्योपसंहारद्वैतं च समानम् ॥३८॥

भा० अनु०—उदाहरणापेक्ष—उदाहरण के अधीन या उदाहरणवश, वश अर्थात् सामर्थ्य। उदाहरणसामर्थ्यवाला। साध्य के साधर्म्य से युक्त उदाहरण पर—दिये जाने पर—हाण्डी घड़ा आदि द्रव्य उत्पत्ति धर्म वाला अनित्य देखा है 'तथा'—वैसा शब्द उत्पत्ति धर्मवाला है इस प्रकार साध्य शब्द का उत्पत्तिधर्मकत्व—उत्पत्ति धर्मवाला होने का उपसंहार किया जाता है और साध्य के वैधर्म्य से युक्त उदाहरण में आत्मा आदि द्रव्य अनुत्पत्तिधर्मवाला नित्य देखा है 'न तथा'—नहीं है वैसा शब्द, यह अनुत्पत्तिकत्व के उपसंहार प्रतिषेध से शब्द का उत्पत्तिधर्मकत्व का उपसंहार किया जाता है। वह यह दो प्रकार का उपसंहार दो प्रकार के उहाहरण से है, जिससे साध्य का उपसंहरण—उपसंग्रहण—तुलितसंग्रहण स्वीकरण जिससे हो वह उपसंहार जाना चाहिये। दो प्रकार वाले हेतु के और दो प्रकार वाले उदाहरण के उपसंहार भी दो समान हैं ॥३८॥

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ॥३९॥

सूत्रार्थ—उपनयपर्यन्त प्रतिज्ञा आदि चारों अवयवों का प्रयोग करते हुए हेतु के अपदेश 'तस्मात्' पञ्चम्यन्त सर्वनामक सामान्य पदसहित प्रदर्शन करके प्रतिज्ञा का पुनः कथन निगमन है, लोक में

परिणाम या निचोड है।

वा० भा०—साधर्म्योक्ते वा वैधर्म्योक्ते वा यथोदाहरणमुप-संह्रियते 'तस्मात्—उत्पत्तिधर्मकत्वात्—अनित्यः शब्दः' इति निगमनम्। निगम्यन्तेऽनेनेति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्रेति निगमनम्; निगम्यते—समर्थ्यन्ते—सम्बध्यन्ते। तत्र साधर्म्योक्ते तावद्धेतौ वाक्यम्—'अनित्यः शब्दः' इति प्रतिज्ञा 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इति हेतुः, उत्पत्तिधर्मकं स्थाल्यादि द्रव्यमनित्यम्" इत्युदाहरणम् तथा-चोत्पत्तिधर्मकः शब्दः, इत्युपनयः 'तस्मात्—उत्पत्तिधर्मकत्वात्—अनित्यः शब्दः' इति निगमनम् (क)

भा० अनु०—उदाहरण साधर्म्य से कहे हेतु पर या उदाहरणवैवैधर्म्य से कहे हेतु पर उदाहरणानुसार उपसंहार कर दिया जाना 'उपनय' है, पुनः 'तस्मात्' उससे—उत्पत्तिधर्मवाला होने से 'शब्द अनित्य है' यह निगमन है। 'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय' चारों एकत्र निगत—नियुक्त—समर्थ—सम्बद्ध कर दिये जाते हैं जिसमें वह यह निगमन है। साधर्म्य—उदाहरणसाधर्म्य से कहे हेतु में पञ्चावयववाक्य है—'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा 'उत्पत्तिधर्मवाला होने से' यह हेतु 'उत्पत्तिधर्मवाला हाण्डी घड़ा आदि द्रव्य अनित्य है' यह उदाहरण 'वैसे ही उत्पत्तिधर्मवाला शब्द है' यह निगमन हुआ। उदाहरणवैधर्म्य से कहे हेतु में भी पञ्चावयव वाक्य है—'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा 'उत्पत्तिधर्मवाला होने से' यह हेतु 'अनुत्पत्तिधर्मवाला आत्मा आदि द्रव्य नित्य देखा है' यह उदाहरण वैसा अनुत्पत्तिधर्मवाला शब्द नहीं है' यह उपनय 'तिस से उत्पत्ति-

धर्म वाला होने से शब्द अनित्य है' यह निगमन हुआ (क)

वा० भा०—अवयवसमुदाये च वाक्ये सम्भूयेतरेतराभिसम्बन्धात् प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति सम्भवस्तावत्— शब्दविषया प्रतिज्ञा—आप्तोपदेशस्य, प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतिसन्धनात्—अनृषेश्च स्वातन्त्र्यानुपपत्तेरनुमानं हेतुः, उदाहरणे सादृश्यप्रतिपत्तेः, तच्चोदाहरणभाष्ये व्याख्यातम्, प्रत्यक्षविषयमुदाहरणम्—दृष्टेनादृष्टसिद्धेः, उपमानमुनय. 'तथेत्युपसंहारात्' 'न तथा' इति चोपमानप्रतिषेधे विपरीतधर्मोपसंहारसिद्धेः, सर्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति (ख)

भा० अनु०—प्रतिज्ञा आदि अवयवों के समुदायरूप वाक्य में वे प्रतिज्ञा आदि अवयव प्रमाणरूप में सम्भव—समर्थ होकर परस्पर सहयोग से अर्थ को सिद्ध करते हैं, प्रतिज्ञा आदि का प्रमाणसम्भव इस प्रकार है—शब्दप्रमाणविषयक प्रतिज्ञा है आप्तोपदेश के प्रमाण होने से, जो ऋषि नहीं उसके आप्तोपदेश होने में स्वतन्त्रता नहीं—समर्थता नहीं—योग्यता नहीं वह प्रत्यक्ष और अनुमान से जांचा जाने से—जांचा जायेगा, पञ्चावयव वाक्य में हेतु अनुमान है क्योंकि उदाहरण में सदृशता की प्राप्ति होने से यह उदाहरणविषयक भाष्य में व्याख्यात कर दिया है तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरण होता है स्थाली - हाण्डी आदि उत्पत्ति धर्मवाला। उदाहरण है प्रत्यक्षविषयक—दृष्टद्वारा अदृष्ट की सिद्धि होने से, उपनय है उपमान 'तथा' वैसा ही कहकर उपसंहार करने से, 'न तथा' वैसा नहीं उपमान धर्म के प्रतिषेध में विपरीत

धर्म का उपसंहार सिद्ध होने से, एक अर्थ—अर्थात् एक विषय की सिद्धि में सबका सामर्थ्य दिखलाना निगमन है (ख)

वा० भा०—इतरेतराभिसम्बन्धोऽपि—असत्यां प्रतिज्ञायामनाश्रया हेत्वादयो न प्रवेंतरन्, असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्येत—उदाहरणे साध्ये च कस्योपसंहारः स्यात् कस्य चापदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनं स्यादिति ? असत्युदाहरणे केन साधर्म्यं वैधर्म्यं वा साध्यसाधनमुपादीयेत ? कस्य वा साधर्म्यवशादुपसंहारः प्रवेंतत ? उपनयं चान्तरेण साध्येऽनुपसंहृतः साधको धर्मो वार्थं साधयेत्, निगमनाभावे च नानभिव्यक्तसम्बन्धानां प्रतिज्ञादीनामेकार्थेन प्रतीयेतार्थप्रतिपादकत्वमिति (ग)

भा० अनु०—प्रतिज्ञा आदि का एक दूसरे से सम्बन्ध भी दर्शाते हैं—प्रतिज्ञा न होने पर हेतु आदि अनाश्रय—निराश्रित हुए वाद—चर्चा में प्रवृत्त न हों, हेतु न होने पर किस का साधनभाव उदाहरण में प्रदर्शित किया जावे और साध्य—पक्ष में किसका उपसंहार हो, और किसके अपदेश—'तस्मात्' संकेत से प्रतिज्ञा का पुनर्वचन—पुनः कथन कर निगमन हो ? उदाहरण न होने पर किसके साधर्म्य या वैधर्म्य साध्यसाधन को ग्रहण करे या किसका साधर्म्यवश से उपसंहार प्रवृत्त हो उपनय के विना साध्य में न उपसंहार किया हुआ साधक धर्म भी अर्थ को न साध सके, निगमन के अभाव में अप्रकट सम्बन्ध वाले प्रतिज्ञा आदि का एक अर्थ में—एक पक्ष साधन में अर्थ का प्रतिपादक होना न प्रतीत हो सके (ग)

वा० भा०—अथावयवार्थाः—साध्यस्य धर्मस्य धर्मिणा सम्बन्धोपादानं प्रतिज्ञार्थः, उदाहरणेन समानस्य विपरीतस्य वा साध्यस्य धर्मस्य साधकभाववचनं हेत्वर्थः, धर्मयोः साध्यसाधकभावप्रदर्शनमेकत्रोदाहरणार्थः, साधनभूतस्य धर्मस्य साध्येन धर्मेण सामानाधिकरण्योपपादनमुपनयार्थः, उदाहरणस्थयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावोपपत्तौ साध्ये विपरीतप्रसङ्गप्रतिषेधार्थं निगमनम् (घ)

भा० अनु०—अब प्रतिज्ञा आदि अवयवों का अर्थ प्रयोजन या लक्ष्य कहते हैं—साधनीय धर्म का धर्मी धर्मवान् पदार्थ के साथ सम्बन्ध का स्वीकार करना कराना प्रतिज्ञा का प्रयोजन—लक्ष्य है, जैसे—अनित्य शब्द है यहां अनित्य होना धर्म और शब्द धर्मी है उसके साथ सम्बन्ध का स्वीकार करना कराना, उदाहरण के साथ समान या विपरीत साध्य धर्म का साधकभाव कथन हेतु का प्रयोजन या लक्ष्य है जैसे स्थाली घड़े आदि के साथ उत्पत्तिमत्ता साधर्म्य या आत्मा आदि के साथ अनुत्पत्तिमत्ता साध्य का वैधर्म्य अनित्य होने का साधकभाव कथन हेतु का प्रयोजन या लक्ष्य है, दोनों धर्मों—साध्यधर्म और साधकधर्म का साध्यसाधनभाव एक स्थान में प्रदर्शित करना उदाहरण का प्रयोजन-लक्ष्य है, साध्य धर्म अनित्य होना साधक धर्म उत्पत्तिमत्ता दोनों का साध्यसाधनभाव एक स्थान स्थाली घड़े में पदर्शित करना उदाहरण का प्रयोजन या लक्ष्य है, साधकरूप धर्म उत्पत्तिमत्ता का साध्य धर्म अनित्य होने के साथ एकाधारता का उपपादन करना—घटा देना उपनय का प्रयोजन या लक्ष्य है, जैसे घडा

उत्पत्तिमान्—उत्पन्नहोनेवाला अनित्य है वैसे शब्द भी उत्पत्तिमान् —उत्पन्न होने वाला अनित्य होना चाहिये यह उपनय का प्रयोजन या लक्ष्य है, उदाहरण में रहने वाले दोनों धर्मों के साध्यसाधन-भाव हो जाने पर साध्य में विपरीत प्रसङ्ग, के प्रतिषेध के लिए निगमन है, जैसे—उदाहरण हाण्डी घड़े में अनित्यता होने से उत्पत्तिमत्ता है अतः शब्द में अनित्यता है उत्पत्तिमत्ता होने से शब्द अनित्य है (घ)

वा० भा०—न चैतस्यां हेतूदाहरणपरिशुद्धौ सत्यां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वं प्रक्रमते। अव्यवस्थाप्य खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावमुदाहरणे जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते, व्यवस्थिते तु खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावे दृष्टान्त-स्थे गृह्यमाणे साधनभूतस्य धर्मस्य हेतुत्वेनोपादानं न साधर्म्य-मात्रस्य वेति (ङ)

भा० अनु०—साधर्म्य वैधर्म्य द्वारा इस हेतु और उदाहरण की परिशुद्धि होने पर उनके अव्यभिचरित—यथार्थ हो जाने पर प्रत्यवस्थान—प्रत्याख्यान—प्रतिवाद की विपरीत कल्पना से जाति निग्रहस्थानों की प्रबलता नहीं हो सकती वे आक्रमण नहीं कर सकते, वस्तुतः साध्य और साधक धर्मों के साध्यसाधनभाव को उदाहरण में व्यवस्थित न करके जातिवादी प्रत्यवस्थान—प्रत्याख्यान—एवं खण्डन करता है—कर सकता है, किन्तु साध्य और साधन धर्मों के उदाहरणस्थ दृष्टान्त में स्थित साध्यसाधनभाव व्यवस्थित ग्रहण कर लिये जाने पर साधकरूप धर्म का हेतुरूप से स्वीकार—प्रद-

र्शन न साधर्म्यमात्र—एकले साधर्म्य का या न वैधर्म्यमात्र एकले वैधर्म्य का है अतः साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों प्रकारवाले हेतु और उदाहरण के ठीक होने पर जाति आदि का प्रवेश नहीं होता (ङ) ॥ ३६ ॥

(अव०) अत उर्ध्वं तर्को लक्षणीयस्तर्क इति—

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ॥४०॥

सूत्रार्थ—अविज्ञातस्वरूपवाले पदार्थ या विषय में कारण की उपपत्ति—उपपन्नता—युक्तता से स्वरूपज्ञानार्थ ऊह—विचार तर्क है।

वा० भा०— अथेदमुच्यते — अविज्ञायमानतत्त्वेऽर्थे जिज्ञासा तावज्जायते जानीये 'इममर्थम्' इति, अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मौविभागेन विमृशति–किं स्विदित्येवम् ? आहोस्विन्नैवम् ? इति विमृश्यमानयोर्धर्मयोरेकं कारणोपपत्त्याऽनुजानाति सम्भवत्यस्मिन् कारणं प्रमाणं हेतुरिति, कारणोपपत्त्या स्यादेवमेतन्नेतरदिति (क)

भा० अनु०—न जाना जा रहा स्वरूप जिसका ऐसे अर्थ विषय में जिज्ञासा—जानने की इच्छा हो जाती है कि इस अर्थ को मैं जानूं—जान सकूं, पुनः जानने की इच्छा जिस वस्तु में है उस जानने में अभीष्ट वस्तु के अन्दर वर्तमान दो विरोधी धर्मों का पृथक्-पृथक् चिन्तन करता है कि क्या यह ऐसा है या ऐसा नहीं है ? चिन्तन में आते हुए दोनों धर्मों में से एक धर्म को कारण—हेतु की उपपत्ति—युक्तता से अनुमत करता है—कि इसमें यह कारण—प्रमाण—हेतु सम्भव है, कारण की उपपन्नता—युक्तता से यह ऐसा है, और ऐसा नहीं है (क)

वा० भा०—तत्र निदर्शनम्—योऽयं ज्ञाता ज्ञातव्यमर्थं जानीते तं च भो तत्त्वतो जानीये—इति जिज्ञासा, स किमुत्पत्तिधर्मको वाऽनुत्पत्तिधर्मक इति विमर्शः, विमृश्यमानेऽविज्ञाततत्त्वेऽर्थे यस्य धर्मस्याभ्यनुज्ञाकारणमुपपद्यते तमनुजानाति—यद्ययमनुत्पत्तिधर्मकस्ततः स्वकृतस्य कर्मणः फलमनुभवति ज्ञाता, दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरमुत्तरं पूर्वस्य पूर्वस्य कारणमुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति स्यातां संसारापवर्गौ, उत्पत्तिधर्मके ज्ञातरि पुनर्न स्याताम्, उत्पन्नः खलु ज्ञाता देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः सम्बध्यत इति नास्येदं स्वकृतस्य कर्मणः फलम्, उत्पन्नश्च भूत्वा न भवतीति तस्याविद्यमानस्य निरुद्धस्य वा स्वकृतकर्मणः फलोपभोगो नास्ति तदेवमेकस्यानेकशरीरयोगः शरीरवियोगश्चात्यन्तं न स्यादिति । यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति तन्नानुजानाति, योऽयमेवंलक्षण ऊहस्तर्क इत्युच्यते (ख)

भा० अनु०—उस तर्क के सम्बन्ध में उदाहरण है—जो यह जाननेवाला जानने योग्य को जानता है—साधारण जानता है तो मन में सोचता है कि अरे मैं उसे स्वरूपतः—वास्तविकरूप से जान जाऊं यह जिज्ञासा ऐसी है कि तो वह अर्थ—पदार्थ क्या उत्पत्तिधर्मवाला है या उत्पतिधर्म से रहित है. ऐसा विमर्श—भिन्न भिन्न चिन्तन होता है, चिन्त्यमान अविज्ञात स्वरूपवाले वाले पदार्थ में जिस धर्म की अभ्यनुज्ञा—अनुमति—मान्यता—स्वीकृति का कारण बन पड़ता है—युक्त हो जाता है, उस धर्म को अनुमत करता है—स्वीकृत करता है जबकि उत्पत्तिधर्म

से रहित नित्य है तभी ज्ञात आत्मा अपने किये कर्म के फल को अनुभव करता है—कर सकता है। दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान का पिछला पिछला पूर्व पूर्व का कारण है तब पिछले पिछले के नाश से उस उसके अनन्तर होने वाले के अभाव—न रहने पर अपवर्ग—मोक्ष हो जाता है। इस प्रकार ज्ञाता नित्य का संसार—संसार में प्रवृत्त होना और मोक्ष दोनों हो सकेगें। उत्पत्ति धर्मवाले—उत्पन्न होनेवाले घड़े आदि की भांति बनने वाले अनित्य ज्ञाता पदार्थ में संसार और मोक्ष न हो सकेगें न घट सकेगें, क्योंकि उत्पन्न हुआ बना हुआ ज्ञाता देह इन्द्रिय बुद्धि अनुभूति साधनों से सम्बद्ध होवे यह इसका स्वकृत कर्म का फल नहीं है क्योंकि उपपन्न—बना हुआ नही होता—नहीं रहता है, उस ऐसे स्थिर न रहनेवाले अनित्य का या शरीर के साथ नष्ट हुए का अपने किए कर्मफल का उपभोग नहीं होता है। वह इस ऐसे अविद्यमान अनित्य उपपन्न बने हुए एक का अनेक शरीर प्राप्त करना और वर्तमान—शरीर से वियोग भी सर्वथा न हो सके—न हो सकेगा। जिसमें उपपन्न—युक्त कारण को नहीं देखता है उसे अनुमत—स्वीकार नहीं करता है सो यह ऐसे लक्षणवाला ऊह—पूर्वापर निवेचन या युक्तिप्रयुक्तिपूर्वक विचार तर्क है (ख)

वा० भा०—कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो न तत्त्वज्ञानमेवेति ? अनवधारणात्, अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या न त्वव-धारयति न व्यवस्यति न निश्चिनोति—एवमेवेदमिति। कथं तत्त्व-

ज्ञानार्थ इति ? तत्त्वज्ञानविषयाभ्यनुज्ञालक्षणादूहाद् भावितात् प्रसन्नादनन्तरं प्रमाणसामर्थ्यात् तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते-इत्येवं तत्त्वज्ञानार्थ इति। सोऽयं तर्कः प्रमाणानि प्रतिसन्दधानः प्रमाणाभ्यनुज्ञानात् प्रमाणसहितो वादे प्रदिष्ट इति, अविज्ञाततत्त्वमनुजानाति यथा सोऽर्थो भवति तस्य यथा भावस्तत्त्वमविपर्ययो याथातथ्यम् (ग)

भा० अनु०— यह तत्त्वज्ञान के अर्थ—लिये है, तत्त्वज्ञान ही क्यों नहीं ? अनिश्चय होने से—दो धर्मों का विचार—चिन्तन 'ऐसा है या ऐसा नहीं है' अनिश्चितरूप है, क्योंकि यह विचारक या तर्ककर्ता दोनों धर्मों में से एक धर्म को कारण की उपपन्नता—युक्तता से स्वीकार करता है—स्वीकार करेगा तर्क करने के अनन्तर, तर्कना में तो अवधारण या निश्चय नहीं कर पा रहा है कि यह ऐसा ही है। अच्छा कैसे यह तर्क तत्त्वज्ञान के अर्थ—लिये है ? तत्त्वज्ञान विषय कि स्वीकृति करा देना लक्षणरूप ऊह—तर्क भावित हो जाने—सम्पादित हो जाने—पूर्ण स्पष्ट हो जाने के अनन्तर प्रमाणों के सामर्थ्य से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है इसलिए तत्त्वज्ञान के लिये है तर्क, वह तर्क प्रमाणों को अपने में युक्त करता हुआ—उनका साहाय्य लेता हुआ प्रमाणों की अनुमति—अनुकूलता से प्रमाणसहित वाद—चर्चा में प्रदिष्ट—आगे रखा गया—प्रयुक्त किया गया है, अविज्ञात तत्त्व को लेता है वह पदार्थ जैसा होता है उसका जैसा भावस्वरूप—तत्त्व—अविपरीत—यथावत् स्वरूप है (ग) ।४०।

(अव०) अस्मिंश्च तर्कविषये—

और इस तर्क विषय में—

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥४१॥

सूत्रार्थ—विविध विचार या चिन्तन करके पक्ष—ऐसा है, प्रतिपक्ष ऐसा नहीं है या स्थितिस्थापक—पक्ष और स्थितिनिषेधक—प्रतिपक्ष के द्वारा अर्थ—वस्तु या विषय का निश्चय करना निर्णय है।

वा० भा०—स्थापना—साधनम्, प्रतिषेधः—उपालम्भः। तौ साधनोपालम्भौ पक्षप्रतिपक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्येते, तयोरन्यतरस्य निवृत्तिरेकतरस्यावस्थानमवश्यम्भावि, यस्यावस्थानं तस्यावधारणं निर्णयः, नेदंपक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं सम्भवतीति। एको हि प्रतिज्ञातमर्थं तं हेतुतः स्थापयति प्रतिषिद्धं चोद्धरतीति, द्वितीयस्य द्वितीयेन स्थापनाहेतुः प्रतिषिध्यते तस्मै प्रतिषेधहेतुश्चोद्ध्रियते स निवर्तते, तस्य निवृतौ योऽवतिष्ठते तेनार्थावधारणं निर्णयः, उभाभ्यामेवार्थावधारणमित्याह। क्या युक्तया ? एकस्य सम्भवो द्वितीयस्यासम्भवः, तावेतौ सम्भवासम्भवौ विमर्शं सह निवर्तयत उभयसम्भवे, उभयासम्भवे त्वनिवृत्तो विमर्श इति, विमृश्येति विमर्शं कृत्वा, सोऽयं विमर्शः पक्षप्रतिपक्षाववद्योत्य न्यायं प्रवर्तयतीत्युपादीयत इति, एतच्च विरुद्धयोरेकधर्मिस्थयोर्बोद्धव्यम् (क)

भा० अनु०—वाद में अर्थात् चर्चा में स्वपक्षस्थापना ही साधन है, परपक्षप्रतिषेध ही उपालम्भ है। ये दोनों साधन और उपालम्भ हैं पक्ष तथा प्रतिपक्ष आश्रय जिनके हैं ऐसे अर्थात् पक्ष प्रतिपक्ष पर आश्रित साधन और उपालम्भ हैं, तथा परस्पर—

एक दूसरे पर अवलम्बित हैं और अनुक्रम से वर्तमान हुए--चलते हुए पक्ष और प्रतिपक्ष कहे जाते हैं, इन दोनों में से किसी एक की निवृत्ति से किसी एक—दूसरे का अवस्थान—सिद्ध हो जाना अवश्यम्भावी है जिसका अवस्थान—स्थिर हो जाना उसका अवधारण अर्थात् निर्णय है। यह केवल पक्ष और प्रतिपक्ष से ही निर्णय सम्भव नहीं है, क्योंकि एक ही उस प्रतिज्ञात—प्रतिज्ञा से स्थापित अर्थ—पदार्थ विषय को हेतु स्थापित करता है और अन्य द्वारा किए प्रतिषेध का उद्धार—निराकरण करता है, दूसरे पक्ष वाले का स्थापनाहेतु दूसरे के द्वारा प्रतिषिद्ध--खण्डित किया जाता है और उसके लिये ही उसका दिया प्रतिषेधक हेतु खण्डित किया जाता है, वह निवृत्त हो जाता है, उसकी निवृत्ति हो जाने पर जो अवस्थित हो जाता है, उससे अर्थ का अवधारण— निर्णय होता है दोनों पक्ष प्रतिपक्षों के द्वारा अवधारण—निर्णय कहा है, किस युक्ति से ? एक का ही सम्भव—सिद्ध होना दूसरे का असम्भव—असिद्ध होना है, ये सम्भव और असम्भव दोनों विमर्श विविध चिन्तन — संशयरूप को निवृत्त कर देते हैं, दोनों पक्ष और प्रतिपक्ष सिद्ध होने या दोनों असिद्ध होने पर तो सन्देह निवृत्त नहीं होता है। सूत्र में विमर्श—विविध चिन्तन या विरोधी चिन्तन—संशय करके निर्णय कहा है, वह यह विमर्श पक्ष प्रतिपक्ष घोषित करके न्याय को प्रवर्तित कर देता है अतः यह संशय ग्रहण किया जाता है और यह एक धर्मी एक वस्तु में स्थित विरुद्ध धर्मों में जानना चाहिए। (क)

वा० भा०—यत्र तु धर्मिसामान्यगतौ विरुद्धौ हेतुतः सम्भवत-

स्तत्र समुच्चयः, हेतुतोऽर्थस्य तथाभावोपपत्तेः, यथा क्रियावद् द्रव्यम्, इति लक्षणवचने, यस्य द्रव्यस्य क्रियायोगो हेतुतः सम्भवति तत्र क्रियावत्, यस्य न सम्भवति तदक्रियमिति। एकधर्मिस्थयोश्च विरुद्धयोर्धर्मयोरयुगपद्भाविनोः कालविकल्पः, यथा तदेव द्रव्यं क्रियायुक्तं क्रियावत्, अनुत्पन्नोपरतक्रियं पुनरक्रियमिति (ख)

भा० अनु०—जहां तो धर्मी सामान्य अर्थात् अनेक धर्मों का आश्रय एक धर्मी है उसमें विरुद्ध दो धर्म हेतु से सम्भव हैं वहां समुच्चय होता है हेतु से अर्थ—पदार्थ के वैसा होने की योग्यता से जैसे—क्रियावत्—क्रियावाला द्रव्य है "क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्" (वै० द० १।१।१५) इस लक्षणवचन में जिस द्रव्य का क्रियायोग हेतु से सम्भव है वह क्रियावत्—क्रियावाला द्रव्य पृथिवी जल अग्नि वायु है जिसका सम्भव नहीं वह अक्रिय द्रव्य है—आकाश आदि, एक धर्मी वस्तु में विरुद्ध धर्मों के होने में एक साथ न होने वालों का कालविकल्प है, जैसे वही द्रव्य क्रिया वाला है वही द्रव्य जबकि अभी क्रिया उत्पन्न नहीं हुई या क्रिया उपरत हो गई वह अक्रिय द्रव्य भी है वहां संशय नहीं होता (ख)

वा० भा०—न चायं निर्णये नियमः—विमृश्यैव पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इति, किन्तु—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नप्रत्यक्षेऽर्थावधारणं निर्णय इति, परीक्षाविषये तु विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः, शास्त्रे वादे च विमर्शवर्जम् (ग) ।।४१।।

भा० अनु०—और निर्णय में यह नियम नहीं कि विमर्श

—विविध चिन्तन—संशय करके ही पक्षप्रतिपक्षों के द्वारा अर्थ का अवधारण करना निर्णय है, किन्तु इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष में अर्थ अवधारण भी निर्णय है, हां परीक्षाविषय—परीक्षणीय स्थल में तो विविध चिन्तन—संशय करके पक्षप्रतिपक्षों द्वारा अर्थ का अवधारण निर्णय है, शास्त्र—में—शास्त्रकथन—शास्त्रविधान में तथा वाद—चर्चा में विमर्शरहित निर्णय होता है (ग)

इति प्रथमाध्याय का प्रथमाह्निक ।

द्वितीय आह्निक

(अवतरण) तिस्रः कथा भवन्ति वादो जल्पो वितण्डा चेति, तासाम्—

तीन कथाएं—विचारचर्चाएं होती हैं, वाद, जल्प और वितण्डा, उनमें—

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥१॥

सूत्रार्थ—प्रमाण और तर्क के द्वारा स्वपक्षस्थापन तथा परपक्ष-प्रतिषेध जिसमें हो, तथा सिद्धान्तानुकूल प्रतिज्ञा आदि पांच अवयवों से युक्त एवं वादी के द्वारा पक्ष और प्रतिवादी के द्वारा प्रतिपक्ष का परिग्रह—स्वीकार कथन या चर्चाप्रसङ्ग जिसमें हो वह वाद है।

भा० वा०—एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ प्रत्यनीकभावात् 'अस्त्यात्मा नास्त्यात्मा' इति। नानाधिकरणस्थौ विरुद्धौ न पक्षप्रतिपक्षौ यथा—नित्य आत्मा, अनित्या बुद्धिरिति। परिग्रहः — अभ्युपगमव्यवस्था, सोऽयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः, तस्य विशेषणं प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः—प्रमाणैस्तर्केण च साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति। साधनं स्थापना, उपालम्भः प्रतिषेधस्तौ साधनोपालम्भौ—उभयोरपि पक्षयोर्व्यतिषक्तावनुबद्धौ च यावदेको निवृत्त एकतरो व्यवस्थित इति, निवृत्तस्योपालम्भः,

व्यवस्थितस्य साधनमिति । जल्पे निग्रहस्थानविनियोगाद् वादे तत्प्रतिषेधः, प्रतिषेधे कस्य चिदभ्यनुज्ञानार्थं सिद्धान्ताविरुद्ध इति वचनम् । सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्ध इति हेत्वाभासस्य निग्रहस्थानस्याभ्यनुज्ञा वादे (क)

भा० अनु०—एक वस्तु में स्थित दो विरुद्ध धर्म ही पक्ष और प्रतिपक्ष हैं प्रतिद्वन्द्वी या विरोधी होने से जैसे—आत्मा है—शरीर में शरीरचालक ज्ञाता। आत्मा नहीं है—शरीर से भिन्न शरीरचालक। भिन्न-भिन्न वस्तुओं में स्थित विरुद्धधर्म पक्ष और प्रतिपक्ष नहीं होते हैं, जैसे—आत्मा नित्य है, बुद्धि अनित्य है। परिग्रह—मतव्यवस्था, वह यह पक्ष प्रतिपक्ष का परिग्रह—स्वीकार वाद है उस वाद का विशेषण प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ है अर्थात् वह प्रमाणों और तर्क से स्वपक्षस्थापन और परपक्ष का प्रतिषेध इस में किया जाता है। साधन—स्थापना, उपालम्भ—प्रतिषेध, वे साधन और उपालम्भ दोनों पक्षों—वादी और प्रतिवादी के पक्षों में एक दूसरे पर लागू हुए अनुयुक्त हैं जब तक कोई एक निवृत्त हो जावे कोई एक व्यवस्थित हो जावे। निवृत्त का प्रतिषेध और व्यवस्थित का साधनभाव सिद्ध हो जाता है। जल्प में निग्रहस्थानों का विनियोग—व्यवहार होने के वाद—चर्चा में निग्रहस्थान का प्रतिषेध है। पक्ष के प्रतिषेध में किसी एक के स्वीकारार्थ सिद्धान्ताविरुद्ध—सिद्धान्त के अनुकूल यह वचन है, सिद्धान्त को स्वीकार करके उस सिद्धान्त का विरोधी विरुद्ध हेत्वाभास परपक्षीय ने किया हो तो उसे दर्शाना, हेत्वाभास और

निग्रहस्थान की स्वीकृति तो वाद — चर्चा में चाहिए या होती है (क)

वा० भा०—पञ्चावयवोपपन्न इति "हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्" [न्याय० ५।२।१२] "हेतूदाहरणाधिकमधिकम्" [न्याय० ५।२।१३] इति चैतयोरभ्यनुज्ञानार्थमिति। अवयवेषु प्रमाणतर्कान्तर्भावे पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणं साधनोपालम्भव्यतिषङ्गज्ञापनार्थम्। अन्यथोभावपि पक्षौ स्थापनाहेतुना प्रवृत्तौ वाद इति स्यात्। अन्तरेणापि चावयवसम्बन्धं प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति दृष्टं तेनापि कल्पेन साधनोपालम्भौ वादे भवत इति ज्ञापयति "छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः" [न्याय० १।२।२] इति वचनाद् विनिग्रहो वाद इति मा विज्ञायि, छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ एव जल्पः, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भो वाद एवेति मा विज्ञायीत्येवमर्थं पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणम् (ख)

भा० अनु०—सूत्र में वाद को पांच अवयवों से युक्त कहा है सो वह "हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्" (न्याय० ५।२।१२) अर्थात् प्रतिज्ञा आदि पांच अवयवों में से किसी एक अवयव से हीन होनेपर 'न्यून निग्रहस्थान' होता है। तथा हेतुदाहरणाधिकमधिकम्" (न्याय० ५।२।१३) हेतु और उदाहरण के अधिक होने से 'अधिक निग्रहस्थान' है। इन दोनों की स्वीकृति के अर्थ-- अर्थात् वाद में ये निग्रहस्थान न आ जावे अतः पांच अवयव पूरे हो जाने चाहियें, प्रतिज्ञा आदि अवयवों में प्रमाणों और तर्क का अन्तर्भाव हो जानेपर भी प्रमाण और तर्क का सूत्र में पृथक्

ग्रहण करना साधन—पक्षस्थापन और उपालम्भ प्रतिषेध का वाद के अन्दर एक दूसरे पर लागू होना जानने के लिऐ है, नहीं तो दोनों भी पक्षस्थापन हेतु से प्रवृत्त हुए वाद हो जावें। अवयवसम्बन्ध के विना भी प्रमाण अर्थ—पदार्थ को साधते हैं ऐसा देखा गया है, उस प्रकार से भी वाद—चर्चा में स्वपक्षस्थापन और परपक्ष प्रतिषेध हो जाते हैं, इस लिऐ प्रमाण और तर्क का ग्रहण करने से सूत्रकार जनाता है वह वाद जब छल जाति निग्रहस्थान के द्वारा साधन और उपालम्भ जिसमें हो वह जल्प है जैसा कि अगले सूत्र में कहे वचन से निग्रहस्थानरहित वाद है ऐसा नहीं जानना, अर्थात् छल जाति निग्रहस्थानों के द्वारा साधन और उपालम्भ जिस में हो ऐसा वह वाद है इसलिए प्रमाण और तर्क का पृथक् ग्रहण है (ख) ॥१॥

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥२॥

सूत्रार्थ—जैसा प्रमाण तर्कयुक्त आदि विशेषण वाला वाद कहा है वैसे उन सब लक्षणयुक्त होता हुआ छल जाति निग्रहस्थान द्वारा साधन और उपालम्भ जिसमें हो वह जल्प है।

वा० भा०—यथोक्तोपपन्न इति प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः, छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपाम्भ इति, छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियते' इत्येवंविशेषणो जल्पः (क)

भा० अनु०—यथोक्तोपपन्न अर्थात जैसा प्रमाण और तर्क से साधन और उपालम्भ वाला सिद्धान्तानुकूल पञ्चावयवपूर्ण पक्ष

और प्रतिपक्ष के स्वीकारवाला वाद कहा वैसे उन सब लक्षणों से युक्त होता हुआ छल जाति निग्रहस्थानों से साधन और उपालम्भ जिसमें किया जाता है ऐसे विशेषणयुक्त विशेषलक्षणयुक्त जल्प है। (क)

वा० भा०—न खलु वै छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनं कस्यचिदर्थस्य सम्भवति—प्रतिषेधार्थतैवैषां सामान्यलक्षणे विशेषलक्षणे च श्रूयते "वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्"[न्याय० १।२।१०] "साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः" [न्याय० १।२।१८] "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्" [न्याय० १।२।१६] इति, विशेषलक्षणेष्वपि यथास्वमिति, न चैतद् विजानीयात् प्रतिषेधार्थतयैवार्थं साधयन्तीति (ख)

भा० अनु०—न केवल छल जाति निग्रहस्थानों से किसी भी अर्थ—वस्तु या विषय का साधना सम्भव है, प्रतिषेध के लिये ही होना इनका सामान्य लक्षण में और विशेष लक्षण में सुना जाता है, जैसे—अर्थ का भेद हो सकने से वचन—कथन को काट देना छल है (न्याय० १।२।१०) साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा खण्डन जाति है (न्याय० १।२।१८) अर्थ की विरुद्धसिद्धि और असिद्धि निग्रहस्थान है (न्याय० १।२।१६) ये सामान्य लक्षण हुए विशेष लक्षणों में भी जैसा सूत्रों में कहा है वैसा जानना। और ऐसा न समझे कि ये प्रतिषेधमुख से ही अर्थ को साधते हैं (ख)

वा० भा०—'छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भो जल्पः' इत्येवमप्युच्यमाने विज्ञायत एतदिति—प्रमाणैः साधनोपालम्भयोश्छलजातिनि-

ग्रहस्थानानामङ्गभावः स्वपक्षरक्षणार्थत्वात्, न स्वतन्त्राणां साधनभावः, यत्तत् प्रमाणैरर्थस्य साधनं तत्र छलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावो रक्षणार्थत्वात् तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविघातेन स्वपक्षं रक्षन्ति तथा चोक्तम् "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्" (न्याय० ४।२।५०) इति।यश्चासौ प्रमाणैः प्रतिपक्षस्योपालम्भस्तस्य चैतानि प्रयुज्यमानानि प्रतिषेधविघातसहकारीणि भवन्ति, तदेवमङ्गीभूतानां छलादीनामुपादानं जल्पे न स्वतन्त्राणां साधनभावः, उपालम्भे तु स्वातन्त्र्यमप्यस्ति (ग) ॥२॥

भा० अनु०—छल जातिनिग्रहस्थानों के द्वारा प्रतिषेध जिसमें हो वह जल्प है, ऐसा कह देने पर यह विज्ञात होता है कि प्रमाणों के द्वारा पक्षस्थापन और प्रतिषेध में छल जाति निग्रहस्थानों का अङ्गभाव—अङ्ग होना है वह सहायक मात्र है स्वपक्ष के रक्षणार्थ न कि स्वतन्त्र हुओं का साधनभाव अर्थात् छल आदि स्वतन्त्र कार्य नहीं करते, जो वह प्रमाणों द्वारा अर्थ का साधन है उस में छल जाति निग्रहस्थानों का अङ्गभाव है रक्षणार्थ होने से, प्रयुक्त किए हुए परपक्ष के विघात—खण्डित करने से स्वपक्ष की रक्षा करते हैं ऐसा कहा भी है "तत्त्वा..." (न्याय० ४।२।५०) अर्थात् स्वसिद्धान्तरूप तत्त्वज्ञान के संरक्षणार्थ जल्प और वितण्डा हैं बीज के उगने बढ़ने की रक्षा के लिये काण्टे वाली शाखाओं की बाड़ के समान जो वह प्रमाणों द्वारा प्रतिपक्ष का प्रतिषेध—खण्डन है उसके ये प्रयुक्त हुए प्रतिषेध के काटने में सहायक होते हैं, वह इस प्रकार प्रमाणों के अङ्गभाव छल आदि का जल्प में ग्रहण है, स्वतन्त्र हुओं का

साधनभाव नहीं, परपक्ष के प्रतिषेध में तो इनकी स्वतन्त्रता भी है (ग)।।२।।

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ।।३।।

सूत्रार्थ—वह जल्प प्रतिपक्ष—वादी के प्रतिकूल स्वपक्षस्थापना-रहित वितण्डा है।

वा० भा०—स जल्पो वितण्डा भवति, किंविशेषणः ? प्रतिपक्ष-स्थापनया हीनः, यौ तौ समानाधिकरणौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षा-वित्युक्तं तयोरेकतरं वैतण्डिको न स्थापयतीति, परपक्षप्रतिषेधेनैव प्रवर्तत इति। अस्तु तर्हि स **प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। यद्वै** खलु तत् प्रतिषेधलक्षणं वाक्यं स वैतण्डिकस्य पक्षः, न त्वसौ साध्यं कञ्चिदर्थं प्रतिज्ञाय स्थापयतीति तस्माद् यथान्यासमेवास्त्विति ।।३।।

भा० अनु०—वह जल्प वितण्डा हो जाता है, किस विशेषण-वाला क्या विशेष बात होने से ? प्रतिपक्ष—वादी से भिन्न पक्ष की स्थापना से रहित हुआ, जो समान वस्तु में वर्तमान दो धर्म पक्ष और प्रतिपक्ष कहे हैं उनमें किसी भी एक को वैतण्डिक स्थापित नहीं करता है किन्तु दूसरे के पक्ष का प्रतिषेध—खण्डनमात्र करने से प्रवृत्त होता है। अच्छा तो वह प्रतिपक्षहीन वितण्डा—जो कि पर-प्रतिषेधरूप वाक्य है वह वैतण्डिक का पक्ष जानना चाहिये, वह प्रतिज्ञा करके किसी साध्य अर्थ को स्थापित तो नहीं करता है, अतः यथान्यास—जैसा सूत्र में लेख है वैसा ही हो—रहे ।।३।।

(अव०) हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभास-मानाः, त इमे—

हेतुलक्षण के अभाव से अहेतु हेतुसामान्य से हेतुप्रदर्शकप्रयोग

से हेतु जैसे भासमान प्रतीयमान हेत्वाभास हैं, वे ये—

'सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः ।४।

सूत्रार्थ—सव्यभिचार,विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, कालातीत हेत्वाभास हैं ।

(अव०) तेषाम्—

इन हेत्वाभासों में—

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥५॥

सूत्र—एक अन्त—एक स्थान जिसका न हो—एकत्र अनियत हेतु-रूप में प्रदर्शित सव्यभिचार हेत्वाभास है ।

वा० भा० — व्यभिचारः — एकत्राव्यवस्था, सहव्यभिचारेण वर्तत इति सव्यभिचारः, निदर्शनम् — नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात्, स्पर्शवान् कुम्भोऽनित्यो दृष्टो न च तथा स्पर्शवान् शब्दस्तस्मादस्पर्शत्वान्नित्यः शब्द इति । दृष्टान्ते स्पर्शवत्त्वमनित्यत्वं च धर्मौ न साध्यसाधनभूतौ दृश्येते—स्पर्शवांश्चाणुर्नित्यश्चेति । आत्मादौ च दृष्टान्ते "उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः" (न्याय० १।१।३४) इति, अस्पर्शत्वादिति हेतुर्नित्यत्वे व्यभिचरति—अस्पर्शा बुद्धिरनित्या चेति, एवं द्विविधेऽपि दृष्टान्ते व्यभिचारात् साध्यसाधनभावो नास्तीति लक्षणाभावादहेतुरिति । नित्यत्वमप्येकोऽन्तः, अनित्यत्वमप्येकोऽन्तः एकस्मिन्नन्ते विद्यते—इत्यैकान्तिको विपर्ययादनैकान्तिक उभयान्तव्यापकत्वादिति ॥५॥

भा० अनु०—व्यभिचार— व्यभिचरण है एकत्र व्यवस्था न होना—अनेकत्र अभिद्रवण । व्यभिचार के सहित सव्यभिचार हेत्वा-

भास कहलाता है। उदाहरण—'शब्द नित्य है' यह हेतु है 'स्पर्शवान् —स्पर्शवाला घड़ा अनित्य देखा गया है' यह उदाहरण है 'न तथा स्पर्शवान् शब्द, वैसा नहीं स्पर्शवाला शब्द' यह उपनय 'तस्मात्—तिससे अस्पर्शवान् शब्द नित्य है' यह निगमन है। इस पञ्चावयव के दृष्टान्त—उदाहरण में स्पर्शवान् और अनित्यत्व धर्मसाध्यसाधन-रूप नहीं दीखते हैं—नहीं हैं। स्पर्शवाला है अणु और नित्य है, यहां अनित्यत्व साध्य में स्पर्शवत्त्व साधनहेतु कथन करना व्यभिच-रित हो गया अनेकत्र घट जाने से अतः यह सव्यभिचार हेत्वाभास है, आत्मा आदि दृष्टान्त में उदाहरण के साधर्म्य से साध्य का साधन हेतु होता है (न्याय० १।१।३४) आत्मा नित्य है 'अस्पर्शत्वात्-स्पर्शरहित होने से' यह हेतु भी व्यभिचार को प्राप्त हो जाता है, जैसे अस्पर्शा—स्पर्शरहित बुद्धि है वह अनित्य है, ऐसे दोनों प्रकार के दृष्टान्त में व्यभिचार होने से साध्य साधनभाव नहीं है अतः हेतु-लक्षण का अभाव होने से यह अहेतु—हेत्वाभास—मिथ्याहेतु है। नित्यत्व भी एक अन्त है—एक स्थान है और अनित्यत्व भी एक—एक स्थान है, एक ही अन्त—स्थान है इस अलग अलग एक ही स्थान में होने वाला हेतु ऐकान्तिक है इसके विपरीत अनैकान्तिक है, दोनों जो हेतुरूप धर्म दोनों ओर व्याप जावें—घट जावें स्पर्श-वत्त्व या अस्पर्शत्व नित्य में भी अनित्य में भी चला जावे वह सव्यभिचार हेत्वाभास है ॥५॥

'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥६॥

सूत्रार्थ—सिद्धान्त—स्वपक्षगत सिद्ध विषय को प्राप्त होकर उस

का विरोधी जो हेतु दिया जावे वह विरुद्ध हेतवाभास है।

वा० भा०—तं विरुणद्धीति तद्विरोधी, अभ्युपेतं सिद्धान्तं व्याहन्तीति, यथा—सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, न नित्यो विकार उपपद्यते। अपेतोऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्, इत्येवं हेतुः, व्यक्तेरपेतोऽपि विकारोऽस्ति, इत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते (क)

भा० अनु०—उस साध्यरूप सिद्धान्त का विरोध करता है वह तद्विरोधी—साध्यरूपसिद्धान्तविरोधी हेत्वाभास है जो कि अभ्युपेत—माने हुए या स्वीकार किए हुए सिद्धान्त को काटता है। जैसे—कोई कहे कि वह यह विकार—विकृत हुआ—बना हुआ पदार्थ व्यक्ति—आत्मसत्ता—अपनी सत्ता से अलग हो जाता है—नष्ट हो जाता है क्योंकि उसके नित्य होने के प्रतिषेध से विकार नित्य नहीं हो सकता है, अपने स्वरूप से पृथक् हुआ भी है उसके विनाश का प्रतिषेध होने से। ऐसा यह हेतु कि विकार अपने स्वरूप से च्युत हो चुका भी और है भी उसके विनाश का प्रतिषेध होने से। स्वरूपच्युत—अनित्य मानकर उसके विनाश का प्रतिषेध कहना हेतु देना विरुद्ध हेत्वाभास है (क)

वा० भा०—कथम्? व्यक्तिः—आत्मलाभः, अपायः—प्रच्युतिः, यद्यात्मलाभात् प्रच्युतो विकारोऽस्ति नित्यत्वप्रतिषेधो नोपपद्यते यद् व्यक्तेरपेतस्यापि विकारस्यास्तित्वं तत् खलु नित्यत्वमिति, नित्यत्वप्रतिषेधो नाम विकारस्यात्मलाभात् प्रच्युतेरुपपत्तिः, यदात्मलाभात् प्रच्यवते तदनित्यं दृष्टम्, यदस्ति न तदात्मला-

भात् प्रच्यवते, अस्तित्वं चात्मलाभात् प्रच्युतिरिति विरुद्धावेतौ धर्मौ न सह सम्भवत इति, सोऽयं हेतुर्यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्तते तमेव व्याहन्तीति (ख) ॥६॥

भा० अनु०—कैसे सिद्धान्त के विरुद्ध है ? इसपर कहते हैं व्यक्ति है आत्मलाभ—स्वरूपस्थिति, 'अपैति—अपाय को प्राप्त हो जाना, अपाय है प्रच्युति—नाश' यदि आत्मलाभ—स्वरूपस्थिति से प्रच्युत—स्वरूपरहित विकार है तो नित्यत्व का प्रतिषेध कहना नहीं बन सकता, जबकि स्वरूपस्थिति से प्रच्युत विकार का अस्तित्व है तो नित्यत्व है, नित्यत्वप्रतिषेध तो विकार के स्वरूपभाव प्रच्युति—नाश हो जाने की युक्तता है, जो स्वरूपस्थिति से प्रच्युत होता है वह अनित्य देखा है, जो है वह स्वरूपस्थिति से प्रच्युत अर्थात् नष्ट नहीं होता, है भी और स्वरूपस्थिति से नष्ट भी ये दोनों धर्म साथ सम्भव नहीं वह यह हेतु जिस सिद्धान्त को आश्रय बनाकर प्रवृत्त है उसका ही व्याघात करता है (ख) ॥६॥

यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः॥७॥

सूत्रार्थ—जिस हेतु से अन्य प्रकरण की चिन्ता—जिज्ञासा मध्य में आ पडे वह निर्णयार्थ प्रेरित या प्रयुक्त हेतु प्रकरणसम साध्य की समानकोटी वाला प्रकरणसम हेत्वाभास है।

वा० भा०—विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षावुभावनवसितौ प्रकरणं तस्य चिन्ता, विमर्शात् प्रभृति प्राङ् निर्णयाद् यद् समीक्षणं सा जिज्ञासा यत्कृता स निर्णयार्थं प्रयुक्त उभयपक्षसाम्यात् प्रकर-

णमनतिवर्तमानः प्रकरणसमो निर्णयाय न प्रकल्पते । प्रज्ञापनं तु—अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरिति, अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकमनित्यं दृष्टं स्थाल्यादि, नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेरनुपलभ्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टमाकाशादि (क)

भा० अनु०—संशय जिनका अधिष्ठान—आश्रय है ऐसे संशययुक्त तथा अवसानरहित—समाप्तिरहित—निर्णय तक न पहुंचे हुए—चलते हुए पक्षप्रतिपक्ष हैं प्रकरण, उसकी चिन्ता है प्रकरणचिन्ता जो कि विमर्श—संशय से लेकर निर्णय होने से पूर्व तक समीक्षण—चिन्तन है जिसके द्वारा जिज्ञासा होती है, वह हेतु निर्णयार्थ प्रयुक्त हुआ दोनों पक्षों के समान होने से प्रकरण—पक्ष प्रतिपक्ष का अतिवर्तन न करता हुआ—समाप्ति न करता हुआ अपितु आगे चलता हुआ हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास है जो कि निर्णय के लिए समर्थ नहीं होता है । प्रज्ञापन—उदाहरण है जैसे 'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा 'नित्य धर्म की उपलब्धि न होने से यह हेतु 'अप्राप्त अनित्य धर्मवाला नित्य देखा आकाश आदि' यह उदाहरण यहां शब्द के अनित्यत्व को साधने में स्थाली के अनित्यत्व साधने आकाश आदि के नित्यत्व साधन का प्रकरण—पक्ष प्रतिपक्ष प्रवर्तन हो जाने का यह प्रकरणसम हेत्वाभास है (क)

वा० भा०—यत्र समानो धर्मः संशयकारणं हेतुत्वेनोपादीयते संशयसमः सव्यभिचार एव, या तु विमर्शस्य विशेषापेक्षिता—उभयपक्षविशेषानुपलब्धिश्च सा प्रकरणं प्रवर्तयति, यथा—शब्दे

नित्यधर्मो नोपलभ्यते, एवमनित्यधर्मोऽपि, सेयमुभयपक्षविशेषानुपलब्धिः प्रकरणचिन्तां प्रवर्तयति। कथम्? विपर्यये हि प्रकरणनिवृत्तेः। यदि नित्यधर्मः शब्दे गृह्यते न स्यात् प्रकरणम्, यदि चाऽनित्यधर्मो गृह्यते—एवमपि निवर्तेत प्रकरणम्। सोऽयं हेतुरुभौ पक्षौ प्रवर्तयन्नन्यतरस्य निर्णयाय न कल्पते (ख) ॥७॥

भा० अनु०—जहां धर्म संशय का कारण हेतुरूप से प्रयुक्त किया जावे वह संशयसम हेत्वाभास भी सव्यभिचारहेत्वाभास ही है प्रकरणसम नहीं, किन्तु जो तो संशय के प्रसङ्ग पर विशेष—निर्णय जिसमें अपेक्षित हो ऐसी दोनों पक्षों—पक्षप्रतिपक्षों की अप्राप्ति—न पक्ष स्थिर हो, न प्रतिपक्ष स्थिर हो ऐसी अनुपलब्धि—अप्राप्ति—असिद्धि प्रकरणसम को प्रवृत्त करती है, जैसे—शब्द में नित्यधर्म नहीं मिलता है, ऐसे ही अनित्यधर्म भी नहीं मिलता है वह यह दोनों पक्षों के विशेष अर्थात् किसी एक निर्णय की अप्राप्ति प्रकरणचिन्ता को प्रवृत्त करती है। कैसे? विपर्यय—दोनों में से किसी एक पक्ष या धर्म की उपलब्धि—प्राप्ति हो जाने पर प्रकरण की निवृत्ति हो जाती है, अर्थात् यदि शब्द में नित्य धर्म ग्रहण होवे—पाया जावे—मिल जाता है तो प्रकरण—पक्ष प्रतिपक्ष न हो सके और यदि अनित्य धर्म ग्रहण किया जावे तो भी प्रकरण निवृत्त हो जावे। वह यह हेतु दो पक्षों—पक्षप्रतिपक्षों को प्रवृत्त करता हुआ किसी एक के निर्णय के लिए समर्थ नहीं होता है (ख) ॥७॥

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः ॥८॥

सूत्रार्थ—साध्य से भिन्न न होता हुआ—जैसा साध्य साध-

नीय है ऐसा हेतु भी साधनीय हो तो उसके साध्य—साधनीय होने से वह साध्यसम हेत्वाभास है।

वा० भा०—द्रव्यं छायेति साध्यं गतिमत्त्वादिति हेतुः साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात् साध्यसमः। अयमप्यसिद्धत्वाद् साध्यत्वात् प्रज्ञापयितव्यः। साध्यं तावत् किं पुरुषवच्छायापि गच्छति? आहोस्विदावरकद्रव्ये संसर्पति—आवरणसन्तानादसन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यत इति, सर्पता खलु द्रव्येण यो यस्तेजोभाग आव्रियते तस्य तस्यासन्निधेरेवाविच्छिन्नो गृह्यत इति, आवरणं तु प्राप्तिप्रतिषेधः॥८॥

भा० अनु०—'छाया द्रव्य है' यह प्रतिज्ञा है जो साधनीय है 'गतिवाली होने से—गति क्रिया है क्रियावत्—क्रियावाला द्रव्य होता है अतः क्रियावाली होने से छाया द्रव्य है' यह हेतु है जो साध्य के समान है साधनीय होने से साध्यसम हेत्वाभास है, क्योंकि यह भी असिद्ध होने से—सिद्ध न होने से—साधनीय होने से कि छाया में गतिमत्ता है या नहीं। किन्तु साध्य की भांति प्रसिद्ध करने योग्य हेतु साधनीय है। कि क्या यह छाया भी मनुष्य की भांति गति करती है—चलती है या कि आवरक द्रव्य—प्रकाश को रोकनेवाले द्रव्य के चलते रहने पर आवरण के निरन्तर बने रहने से प्रकाश का संयोगाभाव रहता है, चलते हुए द्रव्य के द्वारा जो जो भाग ढक जाता है उस उस प्रकाश के पास न रहने से सम्पर्करहित होने से निरन्तर जो गृहीत होता है वही छाया है, आवरण तो प्रकाशप्राप्ति का प्रति-

षेध है जो छाया है ॥८॥

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥९॥

सूत्रार्थ—समय के अत्यय—नाश या अतिक्रमण पर कहा गया हेतुकालातीत हेत्वाभास है।

वा० भा०—कालात्ययेन युक्तो यस्यार्थस्यैकदेशोऽपदिश्यमानस्य स कालात्ययापदिष्टः कालातीत इत्युच्यते। निदर्शनम्—नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वाद् प्रागूर्ध्वं च व्यक्तेरवस्थितं रूपं प्रदीपघटसंयोगेन व्यज्यते तथा च शब्दोऽप्यवस्थितो भेरीदण्डसंयोगेन व्यज्यते दारुपरशुसंयोगेन वा तस्मात् संयोगव्यङ्ग्यत्वात् 'नित्यः-शब्दः' इत्ययमहेतुः कालात्ययापदेशात् व्यञ्जकस्य संयोगस्य कालं न व्यङ्ग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरत्येति, सति प्रदीपघटसंयोगे रूपस्य ग्रहणं भवति न निवृत्ते संयोगे रूपं गृह्यते,निवृत्ते दारुपरशुसंयोगे दूर-स्थेन शब्दः श्रूयते विभागकाले सेयं शब्दस्य व्यक्तिः संयोगकालम-त्येतीति न संयोगनिमित्ता भवति कस्मात ? कारणाभावाद्धि कार्याभाव इति, एवमुदाहरणसाधर्म्यस्याभावादसाधनमयं हेतुर्हेत्वाभास इति (क)

भा० अनु०—जिस साधनीय अर्थ के कहे या प्रयुक्त किए हेतु का एक देश काल—साध्यसाधनकाल के अत्यय—अवर्तमान से युक्त हो वह कालात्ययापदिष्ट कालातीत हेत्वाभास कहा जाता है। उदाहरण—'शब्द नित्य है' यह साध्य या पक्ष या प्रतिज्ञा है 'संयोग-व्यङ्ग्य—संयोग से व्यक्त होने से यह हेतु है, 'रूप की भांति' यह उदाहरण है 'व्यक्त होने से पूर्व और पश्चात् अवस्थित—वर्तमान रूप प्रदीप घडे के संयोग से जैसे व्यक्त—प्रकट होता है वैसे ही अवस्थित—वर्तमान शब्द भेरी दण्ड संयोग से व्यक्त—प्रकट होता

है, या काष्ठ कुठार के संयोग से व्यक्त—प्रकट होता है' यह उपनय है 'तिस से संयोग से व्यक्त—प्रकट होने योग्य के कारण शब्द नित्य है' यह निगमन है। यहां यह हेतु कथन करना अहेतु है कालात्यय से प्रयुक्त किया हुआ है, व्यञ्जक प्रदीपघट का संयोग व्यक्त होने योग्य रूप की प्रकटता काल का अतिक्रमण नहीं करती है, प्रदीप घट का संयोग होने पर रूप का ग्रहण होता ही है, संयोग निवृत्त हो जाने पर रूप का ग्रहण नहीं होता है, परन्तु काष्ठ कुठार का संयोग निवृत्त हो जाने पर—हट जाने पर विभागकाल में दूरस्थित मनुष्य आदि को शब्द सुनाई पड़ता है। वह शब्द को प्रकटता संयोगकाल का अतिक्रमण करती है, सो यह संयोग से होने वाली शब्दव्यक्ति—शब्द की प्रकटता नहीं है, क्योंकि कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है, इस प्रकार उदाहरणसमानधर्मता के अभाव से संयोग असाधन है यह हेतु हेत्वाभास है (क)

वा० भा० --अवयवविपर्यासवचनं न सूत्रार्थः, कस्मात् ? "यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः, अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्" इत्येतद्वचनाद् विपर्यासेनोक्तो हेतुरुदाहरणसाधर्म्यात् तथा वैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुलक्षणं न जहाति, अजहद्धेतुलक्षणं न हेत्वाभासो भवतीति। "अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्" [न्याय० ५।२।११] इति निग्रहस्थानमुक्तं तदेवेदं पुनरुच्यत इत्यतस्तन्न सूत्रार्थः (ख) ॥९॥

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् ॥१०॥

सूत्रार्थ--अर्थ का भेद बन सकने से वचन का विघात काटना छल है।

वा० भा०—न सामान्यलक्षणे छलं शक्यमुदाहर्तुं विभागे तूदाहरणानि ।

भा० अनु०—सामान्य लक्षण में छल का उदाहरण नहीं हो सकता, विभाग में तो उदाहरणें होंगी ही ॥१०॥

(अव०) विभागश्च—

और विभाग—

तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारछलं चेति ॥११॥

सूत्रार्थ—वह छल तीन प्रकार का है जो कि वाक्छलं, सामन्य छल और उपचार छल है ॥११॥

(अव०) तेषाम्—

उनके मध्य में—

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलं।१२।

सूत्रार्थ—'विशेषः—भेदः' न विशेषोऽभिहितः कथितो यस्य तादृशे भेदरहितेऽर्थे पदार्थे,—"धर्मो हि तेषामधिको विशषः" इतिवत्। अर्थात् विशेष—भेदक शब्द जिसका नहीं कहा गया उस ऐसे अर्थ—पदार्थ में वक्ता के अभिप्राय से अन्य अर्थ—वस्तु की कल्पना करना—कल्पना करके छलना वाक्छल है।

वा० भा०—नवकम्बलोऽयं माणवक इति प्रयोगः, अत्र 'नवः कम्बलोऽस्य' इति वक्तुरभिप्रायः, विग्रहे तु विशेषः, न समासे, तत्रायं छलवादी वक्तुरभिप्रायादविवक्षितमन्यार्थम् 'नव कम्बला अस्येति तावदभिहितं भवता' इति कल्पयति, कल्पयित्वा चासम्भ-

वेन प्रतिषेधति—'एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बलाः' इति, तदिदं सामान्यशब्दे—वाचि छलं वाक्छलमिति (क)

भा० अनु०—'नवकम्बल' यह बालक है ऐसा प्रयोग वक्ता ने किया, इस समास वाले प्रयोग में 'नव—नया कम्बल इसका है' यह वक्ता का अभिप्राय है, विग्रह अर्थात् समास के पदविभाग में तो विशेष—भेद है परन्तु समास में नहीं, उसपर छलवादी—छल से बोलनेवाला जन वक्ता के अभिप्राय से अविवक्षित—नहीं कहने में अभीष्ट अन्य पदार्थ "नौ कम्बल हैं इसके, ऐसा आपने कहा है यह कल्पना करता है पुनः कल्पना करके असम्भव—वक्ता के अभिप्राय में न सम्भव होने वाले अर्थ से उसका प्रतिषेध—खण्डन करता है—'कि एक इसका कम्वल है' कहां नौ कम्बल हैं, यह 'नव इस सामान्य शब्द—वचन—वाक में छल वाक्छल है (क)

वा० भा०—अस्य प्रत्यवस्थानम्—सामान्यशब्दस्यानेकार्थत्वेऽन्यतराभिधानकल्पनायां विशेषवचनम्" नव कम्वलः। इत्यनेकार्थस्याभिधानम्—'नवः कम्बलोऽस्य'। 'नव कम्बला अस्य' इति, एतस्मिन् प्रयुक्ते येयं कल्पना 'नव कम्बला अस्य' इत्येतद् भवताऽभिहित तच्च न सम्भवति—इति, एतस्यामन्यतराभिधामकल्पनायां विशेषो वक्तव्यः, यस्माद् विशेषोऽर्थविशेषेषु विज्ञायते. अयमर्थोऽनेनाभिहित इति, स च विशेषो नास्ति तस्मान्मिथ्या नियोगमात्रमेतदिति प्रसिद्धश्च लोके शब्दार्थसम्बन्धोऽभिधानाभिधेयनियमनियोगः, अस्याभिधानस्यायमर्थोऽभिधेय इति समानः समानशब्दस्य विशेषो विशिष्टशब्दस्य (ख)

भा० अनु०—इस वाक्छल का निराकरण या प्रतिवाद है सामान्य शब्द के अनेकार्थ होने में अन्य किसी वर्णन की कल्पना में विशेष वचन होना चाहिए या होता है। 'नवकम्बल' यह अनेकार्थ का कहने वाला है—'नया कम्बल इसका है' 'नौ कम्बल इसके हैं।' 'नवकम्बल' इस शब्द के प्रयुक्त होने पर जो यह कल्पना 'नौ कम्बल हैं इसके यह जो आपने कहा है वह सम्भव नहीं है इस अन्य किसी वर्णन की कल्पना में विशेष—भेदक कहना चाहिए जिससे कि विशेष अर्थों—पदार्थों में विशेष जान पड़े कि यह अर्थ इस वचन से कहा है, वह विशेष—भेद नहीं है अतः यह मिथ्या नियोगमात्र—अडंगा मात्र है, लोक में शब्दार्थसम्बन्ध—अभिधान—वाचक और अभिधेय—वाच्य के नियम का नियोग। विधान प्रसिद्ध है कि इस वाचक का यह वाच्य है जो समान शब्द का समान और विशिष्ट शब्द का विशेष वाच्य है (ख)

वा० भा०—प्रयुक्तपूर्वाश्चेमे शब्दा अर्थे प्रयुज्यन्ते नाप्रयुक्त-पूर्वाः, प्रयोगश्चार्थसम्प्रत्ययार्थः, अर्थप्रत्ययाच्च व्यवहार इति, तत्रैवमर्थगत्यर्थशब्दप्रयोगे सामर्थ्यात् सामान्यशब्दस्य प्रयोगविपयः, 'अजां ग्रामं नय', 'सर्पिराहर', 'ब्राह्मणं भोजय' इति सामान्य-शब्दाः सन्तोऽर्थावयवेषु प्रयुज्यन्ते, सामर्थ्याद् यत्रार्थक्रियादेशना सम्भवति तत्र प्रवर्तन्ते नार्थसामान्ये, क्रियादेशनाऽसम्भवात्। एवमयं सामान्यशब्दः 'नवकम्बलः' इति योऽर्थः सम्भवति 'नवः कम्बलो-ऽस्य' इति तत्र प्रवर्तते, यस्तु न सम्भवति 'नव कम्बला अस्य'

इति तत्र न प्रवर्तते, सोऽयमनुपपद्यमानार्थकल्पनया परवाक्योपालम्भो न कल्पत इति (ग)

भा अनु०—ये सामान्य और विशेष शब्द पूर्वों आप्त जनों से प्रयुक्त चले आते हुए सम्प्रति भी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, अप्रयुक्त पूर्व नहीं। और इनका प्रयोग अर्थ—पदार्थ के बोधार्थ है पदार्थबोध से व्यवहार होता है, अर्थगति अर्थात् अर्थ—वाच्य में प्रवेश या अर्थ—वाच्य की प्रतीति के निमित्त हैं, उस शब्दप्रयोग में सामर्थ्य होने से सामान्यप्रयोग नियम है जैसे --'अजा—बकरी को ग्राम में ले जा, घृत ला, ब्राह्मण को भोजन करा। अजा, ग्राम, घृत, ब्राह्मण आदि सामान्य शब्द होते हुए अपने अर्थ—पदार्थ के अवयव में—विशेषव्यक्ति में प्रयुक्त होते हैं—अपनी अजा, अपना ग्राम, अभीष्ट घृत, विशिष्ट ब्राह्मण यहां अर्थ है सामर्थ्य से जहां अर्थबोधक क्रिया 'नय, आहार, भोजय' की देशना—योजना या प्रेरणा या विधि सम्भव होती है वहां प्रवृत्त होते हैं, पदार्थसामान्य—सामान्य पदार्थ में क्रिया की योजना या प्रेरणा या विधि के असम्भव—सम्भव न होने से नहीं। इस प्रकार यह सामान्यशब्द 'नवकम्बल' है। इसका जो अर्थ सम्भव है 'नया कम्बल' इसका है उसमें प्रवृत्त होता है, जो तो सम्भव नहीं 'नौ कम्बल' इसका उसमें नहीं प्रवृत्त होता है [किसी भारवाहक गर्दभ आदि में 'नौ कम्बल' प्रवृत्त होगा] अतः वह यह न बन सकने वाली अर्थ कल्पना—'बालक नौ कम्बलवाला से पर वाक्य का प्रतिषेध नहीं बन सकता (ग) ॥१२॥

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम् ॥१३॥

सूत्रार्थ—सम्भव अर्थ के होते हुए अतिसामान्य योजना से असम्भव अर्थ की कल्पना करना सामान्य छल है।

वा० भा०—'अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्नः' इत्युक्ते कश्चिदाह 'सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत्' इति, अस्य वचनस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या — असम्भूतार्थकल्पनया क्रियते—'यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत् सम्भवति व्रात्येऽपि सम्भवेत् व्रात्योऽपि ब्राह्मणः सोऽप्यस्तु विद्याचरणसम्पन्नः' इति, यद् विवक्षितमर्थमाप्नोति-चात्येतिच तदतिसामान्यं यथा ब्राह्मणत्वं विद्याचरणसम्पदं क्वचिदा-प्नोति क्वचिदत्येति, सामान्यनिमित्तं छलं सामान्यच्छलमिति (क)

भा० अनु०—अहो वह ब्राह्मण विद्याव्यसन से सम्पन्न है, ऐसा कहने पर कोई कहता है 'हां ब्राह्मण में विद्याव्यसनसम्पत्ति सम्भव है, इस कथन का खण्डन—काट, अर्थभेद की उपपत्ति से—असम्भव—न घटने वाले अर्थ की कल्पना से किया जाता है कि 'यदि ब्राह्मण में विद्याव्यसनसम्पत्ति सम्भव है तो व्रात्य अर्थात् गायत्रीरहित—संस्कारहीन ब्राह्मण में *भी विद्याव्यसनसम्पत्ति सम्भव है, व्रात्य भी ब्राह्मण है वह विद्यासम्पन्न होवे, जो विवक्षित—कहने में वाञ्छित अर्थ को प्राप्त करता है अतिक्रमण भी करता

---

*"आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः, अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीकाभवन्ति" (आश्वलायनगृह्यसूत्र० १।१६।५।६)

है वह अतिसामान्य है, जैसे ब्राह्मणत्व किसी में विद्याव्यसन-सम्पत्ति को प्राप्त करता है, और कहीं अतिक्रान्त कर देता है, सामान्य निमित्तक छल सामान्य छल है (क)

वा० भा०—अस्य च प्रत्यवस्थानम्—अविवक्षितहेतुकस्य विषयानुवादः प्रशंसार्थत्वाद् वाक्यस्य, तदत्रासम्भूतार्थकल्पनानुपपत्तिः—यथा 'सम्भवन्त्यस्मिन् क्षेत्रे शालयः' इति, अनिराकृतमविवक्षितं च बीजजन्म, प्रवृत्तिविषयस्तु क्षेत्रे प्रशस्यते, सोऽयं क्षेत्रानुवादो नास्मिन् शालयो विधीयन्त इति, बीजात्तु शालिनिर्वृत्तिः सती न विवक्षिता। एवं सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत्, इति सम्पद्विषयो ब्राह्मणत्वं न सम्पद्धेतुः, न चात्र हेतुर्विवक्षितः, विषयानुवादस्त्वयं प्रशंसार्थत्वाद् वाक्यस्य, सति ब्राह्मणत्वे सम्पद्धेतुः समर्थ इति विषयं च प्रशंसता वाक्येन यथाहेतु फलनिर्वृत्तिर्न प्रत्याख्यायते, तदेवं सति वचनविघातेऽसम्भूतार्थकल्पनया नोपपद्यत इति (ख)

भा० अनु०—इस सामान्य छल का निराकरण— विद्याव्यसन-सम्पत्ति का हेतु ब्राह्मण है ऐसा कहने में अविवक्षित हेतुवाले—जिसमें हेतु का कहना अभीष्ट नहीं ऐसे वचन का विषयानुवाद— योग्यतानुसार प्रदर्शन प्रशंसार्थ होने से यहां असम्भूतार्थ—जहां विद्याव्यसन नहीं हुआ ऐसे व्रात्य—पतितसावित्री ब्राह्मण की कल्पना नहीं बन सकती। जैसे—इस खेत में शाली धान्य हो सकते हैं, इस उदाहरण में शाली बीजों का जन्म—उगने का अनिराकरण और अविवक्षित—कहने में अनभीष्ट नहीं किन्तु उगने का स्थान है, उगेंगे ही यह कहने में अभीष्ट नहीं, केवल प्रवृत्तिविषय—खेत जोतने

योग्य है खेत की प्रशंसा है वह खेत का अनुवाद—योग्यतानुसार प्रदर्शन है, ऐसा नहीं कि खेत में शालिधान्य स्वतः सम्पन्न हो रहे हैं, बीज से शालि को सिद्धि होती हुई विवक्षित नहीं है, बीज बोया जाएगा तो उगेंगे। इसी प्रकार ब्राह्मण में विद्याव्यसन की सम्पत्ति —सम्पन्नयोग्यता है सम्पत्ति का विषय ब्राह्मणत्व है—विद्या की योग्यता का स्थान ब्राह्मणत्व है न कि सम्पत्ति—विद्या की योग्यता का हेतु है और यहां हेतु कहने में अभीष्ट नहीं है अर्थात् जहां विद्याव्यसन है वहां ब्राह्मणत्व है, न कि जहां ब्राह्मणत्व है वहां विद्याव्यसन है। यह तो विषयानुवाद है वाक्य में प्रशंसार्थ। ब्राह्मणत्व होने पर सम्पत्ति का हेतु अध्ययन समर्थ है इस विषय की प्रशंसा करते हुए वाक्य हेतु के अनुसार—अध्ययन के अनुसार फल-सिद्धि का निराकरण नहीं किया जाता है वह ऐसा होने पर वचनवि-घात असम्भूत अर्थकल्पना से नहीं बनता है (ख) ॥१३॥

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—नामवाचक के धर्म—यथार्थ प्रयोग के विकल्प—अन्यार्थ के निर्देश—कथन में अर्थ—शब्दार्थ यथावत् स्वरूप के द्वारा प्रतिषेध प्रदर्शन उपचार छल—उपचारविषयक छल है।

वा० भा०— अभिधानस्य धर्मो यथार्थप्रयोगः, धर्मविकल्पः [‘तस्य विकल्प’ अथवा ‘विकल्पः’ इति पाठेन भवितव्यम्]—अन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः, तस्य निर्देशे—धर्मविकल्पनिर्देशे, यथा ‘मञ्चाः क्रोशन्ति’ इति, अर्थसद्भावे न प्रतिषेधः ‘मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति न तु मञ्चाः क्रोशन्ति’ का पुनरत्रार्थविकल्पोपपत्तिः? अन्यथा प्रयुक्तस्या-

न्यथार्थकल्पनम्—भक्त्या प्रयोगे प्राधान्येन कल्पनम्। उपचारो नीतार्थः सहचारादिनिमित्तेनातद्भावे तद्वदभिधानमुपचार इति (क)

भा० अनु०—धर्म—अभिधान शब्द का धर्म है उसका यथार्थ प्रयोग, उसका विकल्प है अन्यत्र दृष्ट—वर्तमान हुए का अन्यत्र प्रयोग, उसके निर्देश में—धर्मविकल्प निर्देश में जैसे—'मंञ्चाः क्रोशान्त' खेतों में बन्धे टाण्ड चिल्लाते हैं, इस धर्मविकल्प निर्देश में यथार्थ प्रयोग के अन्यत्रस्थ प्रयोग के कथन में अर्थ—शब्दार्थ सद्भाव—यथार्थ शब्दार्थ होने को लक्ष्य बना कर प्रतिषेध करना अर्थात् 'मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति' मञ्चस्थ—मञ्च पर बैठे मनुष्य चिल्लाते हैं न कि मञ्च चिल्लाते हैं [ऐसा उपचार छल है] तो यहां क्या अर्थ—शब्दार्थ के विकल्प—अन्यत्र प्रयोग की उपपन्नता है ? अन्यथा प्रयुक्त शब्दार्थ की अन्यथार्थ कल्पना अर्थात् भक्ति—गौणवृत्ति से किए प्रयोग में 'मञ्चस्थ अर्थ' में 'मञ्च' प्रयोग प्राधान्य—मुख्यार्थ से कल्पना करना—कहां मञ्च चिल्लाते हैं ये तो मञ्चस्थ मनुष्य चिल्लाते हैं, ऐसा उपचारविषयक छल—उपचार छल है, नीत—परिणामतः लिया अर्थ—सहचारोपाधि आदिनिमित्त से वैसे न होने में वैसा वर्णन उपचार है (क)

वा० भा०—अत्र समाधिः—प्रसिद्धे प्रयोगे वक्तुर्यथाभिप्रायं शब्दार्थयोरनुज्ञा प्रतिषेधो वा, न छन्दतः। प्रधानभूतस्य शब्दस्य भाक्तस्य च गुणभूतस्य प्रयोग उभयोर्लोकसिद्धः, सिद्धप्रयोगे यथा वक्तुरभिप्रायस्तथा शब्दार्थावनुज्ञेयौ प्रतिषेध्यौ वा, न छन्दतः। यदि वक्ता प्रधानशब्दं प्रयुङ्क्ते तथाभूतस्याभ्यनुज्ञा प्रतिषेधो वा, न

छन्दतः, अथ गुणभूतं तदा गुणभूतस्य, यत्र तु वक्ता गुणभूतं शब्दं प्रयुङ्क्ते प्रधानभूतमभिप्रेत्य परः प्रतिषेधति स्वमनीषया प्रतिषेधोऽसौ भवति न परोपलम्भ इति (ख)

भा० अनु०—इसका समाधान—प्रसिद्ध शब्दार्थप्रयोग में वक्ता के अभिप्राय के अनुसार शब्द और अर्थ की मान्यता या प्रतिषेध—खण्डन होता है या नहीं, अन्य की इच्छा से नहीं। प्रधानभूत शब्द और भाक्त—गौण शब्द दोनों का प्रयोग लोकसिद्ध है, लोकसिद्ध प्रयोग में जैसे वक्ता का अभिप्राय है वैसे शब्दार्थ मानने योग्य या प्रतिषेध करने योग्य है, स्वेच्छा से नहीं, यदि वक्ता प्रधान शब्द का प्रयोग करता है तो वैसे की मान्यता या प्रतिषेध होना चाहिए, स्वच्छन्द नहीं, और गुणभूत—गौण शब्द का प्रयोग करता है तब गौण का। जहां वक्ता गौण शब्द का प्रयोग करता है दूसरा मनुष्य प्रधान को लेकर प्रतिषेध करता है यह स्वेच्छा से वह प्रतिषेध नहीं है न कि पर का दोष—प्रतिषेध है (ख) ॥१४॥

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् ॥१५॥

सूत्रार्थ—वाक् छल ही उपचार छल है उससे अभिन्न होने से।

वा० भा०—न वाक्छलादुपचारच्छलं भिद्यते तस्याप्यर्थान्तरकल्पनयाऽविशेषात्, इहापि स्थान्यर्थो गुणशब्दः प्रधानशब्दः स्थानार्थ इति कल्पयित्वा प्रतिषिध्यत इति ॥१५॥

भा० अनु०—वाक्छल से उपचार छल भिन्न नहीं होता है, उसके भी अन्य रूप की कल्पना से विशेष न होने से, वह 'नव कम्बल बालक' में 'नव' शब्द की 'नौ संख्या कल्पित करी, यहां भी

स्थानी—स्थानवाला—मञ्चस्थानवाला—मञ्च पर बैठा पुरुष अर्थ गौण शब्द को प्रधान शब्द स्थान—मञ्च अर्थ कल्पित करके प्रतिषेध किया जाता है ॥१५॥

न तदर्थान्तरभावात् ॥१६॥

सूत्रार्थ—वाक्छल ही उपचार छल नहीं, उससे भिन्न वस्तुरूप होने से।

वा० भा०—न वाक्छलमेवोपचारच्छलं यस्यार्थसद्भावप्रतिषेधस्यार्थान्तरभावात्। कुतः? अर्थान्तरकल्पनात्, अन्या ह्यर्थान्तरकल्पना अन्योऽर्थसद्भाप्रतिषेध इति ॥१६॥

भा० अनु०—वाक्छल ही उपचार छल नहीं है, उस उपचार छल के अर्थसद्भाव के प्रतिषेध होने से, अर्थसद्भाव के अर्थान्तर—वाक्छल से भिन्न है, क्योंकि? अर्थान्तरकल्पना से वाक्छल अर्थान्तर कल्पना—भिन्नार्थ की कल्पना है 'नव-नया' का भिन्नार्थ 'नौ' संख्या कल्पना है, भिन्नार्थकल्पना अन्य है अर्थसद्भावप्रतिषेध—अर्थसद्भाव का प्रतिषेध अन्य है 'मञ्च' नहीं चिल्लाते हैं किन्तु 'मञ्चस्थ मनुष्य चिल्लाते हैं ॥१६॥

'अविशेषे वा किञ्चत्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः ॥१७॥

सूत्रार्थ—कुछ समान धर्मत्व—सादृश्य से अभेद होने पर—अभेद मानने पर उपचार छल को ही क्या हटाना किन्तु दो छलो को भी न मान कर एक छल मानने का प्रसङ्ग आजाता है।

वा० भा०—छलस्य द्वित्वमभ्यनुज्ञाय त्रित्वं प्रतिषिध्यते किञ्चि-

साधर्म्यात्, यथा चायं हेतुस्त्रित्वं प्रतिषेधति तथा द्वित्वमप्यभ्यनुज्ञातं प्रतिषेधति, विद्यते हि किञ्चित्साधर्म्यं द्वयोरपीति। अथ द्वित्वं किञ्चित्साधर्म्यान्न निवर्तते त्रित्वमपि न निवर्त्स्यति ॥१७॥

भा० अनु०—छल के द्वित्व 'सामान्य छल और वाक्छल' को स्वीकार करके कुछ समानधर्मता से त्रित्व—छल का तीन होना प्रतिषिद्ध किया जाता है तो वैसे यह हेतु स्वीकार किए द्वित्व को प्रतिषेध करता है, क्योंकि कुछ समानधर्मता तो दोनों छलों में भी है और यदि द्वित्व कुछ समान धर्मता से निवृत्त नहीं होता तो फिर त्रित्व भी निवृत्त नहीं होगा ॥१७॥

(अव०) अत ऊर्ध्वम्—

इससे आगे—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ॥१८॥

सूत्रार्थ—समानधर्मता और विपरीतधर्मता के द्वारा हेतु का प्रतिषेध करना—काटना जाति है।

वा० भा०—प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसङ्गो जायते स जातिः, स च प्रसङ्गः साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानम्—उपालम्भः प्रतिषेध इति। उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः, इत्यस्योदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति ॥१८॥

भा० अनु०—अपने पक्षसाधन में दिए हेतु पर जो अन्य प्रसङ्ग अन्यथा या आपात या विरुद्ध खड़ा हो जाता है वह जाति है, और वह प्रसङ्ग समानधर्मत्व और विपरीतधर्मत्व के द्वारा प्रतिवाद उपालम्भ प्रतिषेध है, उदाहरण के साधर्म्य से साध्य का साधन जो हेतु

है, इसका उदाहरण के वैधर्म्यद्वारा प्रतिवाद—प्रतिषेध कर देना जाति है तथा उदाहरणके वैधर्म्यद्वारा साध्यका साधन जो हेतु है उसका उदाहरण के साधर्म्य से प्रतिवाद—प्रतिषेध करना जाति है प्रतिद्वन्द्वी भावसे या विरोधीरूपसे हो जानेवाला विषय जाति है ॥१८॥

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥१९॥

सूत्रार्थ—विपरीत प्रतिपादन विपरीत सिद्धि तथा अप्रतिपत्ति अनारम्भ—पक्ष का संस्थापित न कर सकना असिद्धि निग्रह—स्थान है।

वा० भा०—विपरीता वा कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः, विप्रतिपद्यमानः पराजयं प्राप्नोति निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः। अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽप्यप्रारम्भः परेण स्थापितं वा न प्रतिषेधति, प्रतिषेधे वा नोद्धरति। असमासाच्च नैते एव निग्रहस्थाने इति ॥१९॥

भा० अनु०—स्वसिद्धान्त के विपरीत या निन्दित—आयोग्य प्रतिपत्ति—प्रतिपादन या सिद्धि, विपरीत—प्रतिपादन करता हुआ पराजय को प्राप्त करता है, पराजयप्राप्ति निग्रहस्थान है, अप्रतिपत्ति आरम्भ हुए विषय पर भी प्रारम्भ न करना या दूसरे के द्वारा स्थापित पक्ष का प्रतिषेध न करना या अपने पक्ष के ऊपर अन्य के द्वारा किए प्रतिषेध का उद्धार—निराकरण न करना भी निग्रह स्थान है। सूत्र में असमास—समास न करके पृथक् पृथक् विभक्ति से ये दो ही निग्रह स्थान हैं ऐसा नहीं समझना ॥१९॥

(अव०) किं पुनर्दृष्टान्तवज्जातिनिग्रहस्थानयोरभेदोऽथ सिद्धान्तवद्भेद इत्यत आह—

तो क्या फिर दृष्टान्त की भांति पूर्वोक्त जाति का तथा निग्रहस्थान का अभेद—एकप्रकारत्व है अर्थात् दृष्टान्त का प्रकार एक होता है वैसे ही जाति का भी एक प्रकार और निग्रहस्थान का भी एक प्रकार है या कि सर्वतन्त्र प्रतितन्त्र आदि सिद्धान्त के जैसे अनेक प्रकार हैं ऐसे ही जाति के भी और निग्रहस्थान के भी अनेक प्रकार हैं क्या ?

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ॥२०॥

सूत्रार्थ—उनके (लक्षण) भेदों से जाति और निग्रहस्थान का बहुत्व है, न केवल द्वित्व ही, द्वित्व के भी बहुत प्रकार होने से जाति अनेक प्रकार की और निग्रहस्थान भी अनेक प्रकार का है।

वा० भा०—तस्य साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वम्, तयोश्च विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पान्निग्रहस्थानबहुत्वम्। नानाकल्पो विकल्पः, विविधो वा कल्पो विकल्पः। तत्र—अननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिर्निग्रहस्थानं शेषस्तु विप्रतिपत्तिरिति ॥२०॥

भा० अनु०—'तद्विकल्प' उस साधर्म्यवैधर्म्य द्वारा प्रतिषेध के नानाभेद या विविधप्रकार से जाति का द्वित्व नहीं किन्तु बहुत्व—बहुत प्रकार की जाति है। 'तद्विकल्प' उन दोनों विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के विकल्प विविध प्रकार से निग्रहस्थान का द्वित्व नहीं किन्तु बहुत्व—बहुत प्रकार का निग्रहस्थान है। नानाकल्प विकल्प है [भेद या प्रकार को कल्प कहते हैं] उस निग्रहस्थानबहुत्व में—'अननुभाषण—सभा के द्वारा प्रसिद्ध किए और प्रतिवादी द्वारा तीन वार कहने के पश्चात् भी न बोलना' (न्याय० ५।२।१६) 'अज्ञान—पूर्वोक्त सभा द्वारा प्रसिद्ध किए और प्रतिवादी द्वारा तीन वार कहे प्रति-

वाद को न समझ सकना—'मैं नहीं समझा ऐसा कहना' (न्याय० ५।२।१७) 'अप्रतिभा—परपक्ष का उत्तर न सूझना' (न्याय० ५।२।१८) 'विक्षेप—अन्यकार्य के मिष से कथा—चर्चाप्रसङ्ग का विच्छेद कर देना' (न्याय० ५।२।१९) 'मतानुज्ञा—अपने पक्ष में दोष मान उसका निवारण न करके परपक्ष में उस जैसा दोष दिखाना' (न्याय ५।२।२०) 'पर्यनुयोज्योपेक्षण—निग्रहस्थान को प्राप्त हुए का कि तू निग्रहस्थान को प्राप्त हुआ ऐसा न कह सकना' (न्याय० ५।२।२१) ये ६ अप्रतिपत्तिरूप निग्रहस्थान हैं, शेष—प्रतिज्ञाहानि प्रतिज्ञान्तर आदि १६ (न्याय० ५।२।१) तो विप्रतिपत्ति निग्रहस्थान हैं ॥२०॥

(उपसंहार)

वा० भा०—इमे प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा यथोद्देशं लक्षिताः, यथालक्षणं परीक्षिष्यन्त इति त्रिविधाऽस्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्वेदितव्येति ।

भा० अनु०—ये प्रमाण आदि—प्रमाण से लेकर निग्रहस्थान-पर्यन्त सोलह पदार्थ नाम लेकर कह दिए, नामानुसार उनके लक्षण भी कर दिए, अब लक्षणानुसार उनकी परीक्षा की जावेगी, इस न्यायशास्त्र की यह त्रिविध—तीन प्रकार की प्रवृत्ति प्रवर्तना—वर्णन-शैली या कथनप्रक्रिया जाननी चाहिए ॥

इति द्वितीय आह्निक

प्रथमाध्यायात्मक सवात्स्यायनभाष्य न्यायदर्शन स्वामिब्रह्ममुनिकृत भाषानुवादसहित पूर्ण ।

श्री० सेठ ... (बम्बई) ने इसमें २००) रूपये सहायता प्रदान की ...

"निरुक्त सम्मर्शः"

स्वामीब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड का रचित "निरुक्त-सम्मर्शः" निरुक्तसंस्कृतभाष्य में कठिन से कठिन स्थलों का भी सुगम स्पष्टीकरण है, इसे पढ कर विचारशील विद्वानों को आश्चर्यमिश्रित हर्ष होगा, अन्य भाष्यकारों द्वारा उपेक्षित स्थलों को स्पष्ट करने पर विशेष ध्यान दिया है, ऊहापोह और खोज से पूर्ण है, पूरे १४ अध्यायों का भाष्य है, लम्बे साईज में ६६८ पृष्ठों में पक्के [illegible]र कपड़े की जिल्द । मूल्य केवल लागतमात्र १५) रुपये ।

मिलने का पता—

आर्यसाहित्यमण्डल

श्रीनगर रोड, अजमेर ।

"वेदान्तदर्शनं ब्रह्ममुनिभाष्योपेतम्"

वेदान्तदर्शन संस्कृत भाष्य मूल्य ३) रूपये,

"वेदाध्ययनप्रवेशिका"

गुरुकुलों में पढ़ाये जाने वाले एवं एम० ए० तक में पढाये जाने वाले सूक्तों का सरल हिन्दी भाष्य, पक्की कपडे की जिल्द ४) रूपये ।

मिलने का पता—

सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा

दयानन्द भवन, रामलीला मैदान, न्यू देहली १

"सांख्यदर्शनं ब्रह्ममुनिभाष्योपेतम" मूल्य १॥) रूपया ।

मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड जवाहरनगर दिल्ली ७